
यशपाल
मेरी

अपनी रचनाओं से समाज को मनोरंजन का संतोष देने के साथ-साथ इन रचनाओं द्वारा समाज को सचेत कर सकने के, अपने विचार में कर्तव्यपूर्ति के सन्तोष के लिए भी यत्न करता रहा हूँ। मेरी रचनाएँ केवल मनोरंजक घटनाचक्र या विवरण नहीं बन पाई हैं। इन रचनाओं से पाठकों को प्रायः ही मनोरंजन की तह या पार्श्व में अपने संस्कारों या अभ्यस्त विश्वासों पर खरोंच या चुभन की असुविधा भी अनुभव हो जाती है। इसका कारण, मेरी कहानियों के सूत्र परम्परागत मान्यताओं का समर्थन नहीं अपितु अधिकांश मैं इन मान्यताओं के प्रति विद्रूप या विरोध का होना रहा है।

मेरी प्रिय कहानियाँ

यशपाल

राजपाल

1912-2012
100
वर्षों की
श्रेष्ठ प्रकाशन परम्परा
राजपाल

ISBN: 978-93-5064-050-0
MERI PRIYA KAHANIYAN (Stories) by Yashpal

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली- 6

website: www.rajpalpublishing.com
e-mail: sales@rajpalpublishing.com

भूमिका

जेल से मुक्ति (1938) के समय से, मेरी अन्य रचनाओं के साथ-साथ, औसतन प्रति डेढ़-दो वर्ष में मेरी कहानियों के संग्रह भी प्रकाशित होते रहे हैं। अब तक सोलह संग्रह। इन संग्रहों को पृथक्-पृथक् देखने से मेरी प्रत्येक संग्रह की कहानियों में कुछ सादृश्य जान पड़ता है। इस कारण तत्कालीन चिन्तन और कल्पना की दिशा तथा विचारों की दृष्टि से कथ्य-विशेष के प्रति रुचि रही होगी। इस विभिन्नता के बावजूद मेरी सभी रचनाओं में मूलभूत एकसूत्रता भी जान पड़ती है। इस एकसूत्रता की चर्चा बाद में।

अपनी कहानियों में से कुछ को प्रिय कहकर चुन देना रुचिकर नहीं है। कहा जाता है—लेखक की रचनाएँ उसकी सृष्टि या सन्तति होती हैं। तटस्थ अथवा निष्पक्ष भाव से अपनी सन्तति की उपलब्धियों के विचार से, सबको समान प्रिय मानकर भी, उसकी सफलता के निर्णय में संकोच नहीं होना चाहिए। परन्तु सन्ततियों का अपने जनक से पृथक् व्यक्तित्व और कृतित्व बन जाता है। लेखक की रचना सम्भवतः सदा ही उसके सर्जक व्यक्तित्व का अंश बनी रहती है। फिर भी एक कसौटी हो सकती है। सर्जक का अपना निर्णय नहीं, समाज अथवा पाठकों का निर्णय अथवा परख—जिनके लिए रचना की जाती है। अर्थात् किन रचनाओं की कितनी चर्चा हुई या किन रचनाओं ने समाज अथवा पाठकों को कितना रिझाया या उद्वेलित किया। संग्रह के प्रकाशन योग्य हो जाने पर प्रायः ऐसी ही कहानी का शीर्षक संग्रह को दिया जाता रहा है।

कहानी की सफलता की कसौटी है—समाज या पाठकों को रिझा सकना, उद्वेलित कर सकना! इस परख से रचना या कहानी का प्रयोजन समाज की रीझ या मनोरंजन ही जान पड़ता है। रवि बाबू के उद्धरण की गवाही भी दी जा सकती है: “कहानी का उद्देश्य केवल कहानी है। कहानी-लेखक कहानी लिखना या सुनाना चाहता है, इसलिए कहानी लिखता है। कहानी लिखने-सुनाने से या सुनने-पढ़ने से जो सन्तोष होता है वही कहानी का आद्योपान्त उद्देश्य और लक्ष्य है, अन्य कुछ नहीं।” रवि बाबू ने यह बात बहस से बचने के लिए कही होगी। मैं इसे शब्दशः नहीं मान लेना चाहता। कहानी गढ़ना मेरी जीविका रही है। अनुभव से खूब जाना था और जानता हूँ कि हल्के-फुल्के रोचक घटनाचक्र बनाकर लिखी गई रचनाओं की खपत खूब होती है। परिणाम में कम श्रम से अधिक उपार्जन की सम्भावना। इस सम्भावना की उपेक्षा दूसरे सन्तोष को महत्त्व देने के कारण करनी पड़ी।

यह ठीक है कि अपनी रचना से जीविका की आशा करता हूँ तो इन रचनाओं से समाज को मनोरंजन या सन्तोष देना ही होगा। परन्तु, अपने सन्तोष की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। पार्थिव सन्तोष की नहीं, अपने विचारों या अहम् के सन्तोष की। स्वयं को समाज का सचेत और समाज के प्रति उत्तरदायी अंश मानकर समाज को सचेत करते रहने के सन्तोष की। अपनी रचनाओं से समाज को मनोरंजन का संतोष देने के साथ-साथ इन

रचनाओं द्वारा समाज को सचेत कर सकने के, अपने विचार में कर्तव्यपूर्ति के सन्तोष के लिए भी यत्न करता रहा हूँ। मेरी रचनाएँ केवल मनोरंजक घटनाचक्र या विवरण नहीं बन पाई हैं। इन रचनाओं से पाठकों को प्रायः ही मनोरंजन की तह या पार्श्व में अपने संस्कारों या अभ्यस्त विश्वासों पर खरोंच या चुभन की असुविधा भी अनुभव हो जाती है। इसका कारण, मेरी कहानियों के सूत्र परम्परागत मान्यताओं का समर्थन नहीं अपितु अधिकांश में इन मान्यताओं के प्रति विद्रूप या विरोध का होना रहा है। इसलिए परम्परा और यथावत् स्थिति के हामियों ने मेरी रचनाओं को अनैतिक, अश्लील और कुरुचिपूर्ण भी कहा। मेरी रचनाओं का साहित्य के बाजार से बहिष्कार का भी यत्न किया जा रहा है। मैंने विरोध के आर्थिक परिणाम को झेला है और अपने विवेक की रक्षा का सन्तोष भी पाया है।

प्रस्तुत कहानियों का चुनाव अधिकांश में संग्रहों के शीर्षकों से किया गया है। मेरा पहला संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' था। यह किसी कहानी का शीर्षक नहीं है। पिंजरा प्रतीक है जेल का। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ जेल में लिखी थीं। उड़ान से अभिप्राय था—अतीत स्मृतियाँ और उसके आधार पर कल्पनाएँ। प्रस्तुत प्रकाशन के कलेवर में स्थान की भी समस्या है। अतः इस संग्रह से एक वैसी ही छोटी कहानी ले रहा हूँ—'पहाड़ की स्मृति'। 'वो दुनिया' शीर्षक भी प्रतीकात्मक है। इसलिए उस दुनिया की ओर संकेत की कहानी ली है—'जहाँ हसद नहीं'। 'ज्ञानदान' संग्रह से इसी शीर्षक की कहानी। यह कहानी प्रश्न है—भरोसा विश्वासगत ज्ञान का अथवा अनुभवगत ज्ञान का किया जाए? 'अभिशप्त' अभिशप्त जीवनों के कारण की जिज्ञासा है। 'तर्क का तूफान' को भावनाओं की घुटन में 'तर्क' की हवा से राहत की चाह मान सकते हैं।

सन् 1945-46 में विकट विवाद चल रहा था—"कला के लिए कला अथवा जीवन के लिए कला?" अपने विचार के पक्ष में 'भस्मावृत चिंगारी' कहानी लिखी थी। लगभग उन्हीं वर्षों से प्रकाशित मेरी कुछ कहानियों से क्षोभ का बवंडर-सा उठ खड़ा हुआ था। इन कहानियों का संकलन प्रकाशित करते समय अपनी सफाई कहानी के रूप में देने के लिए 'फूलों का कुरता' कहानी लिखी थी। 'उत्तराधिकारी' में वही परम्परागत मान्यताओं और परिस्थितिजन्य आवश्यकता का द्वन्द्व है। 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ' पूछती है—सौन्दर्य की चाह या तलाश क्यों? कुछ आलोचक मेरी कहानियों के नौ संग्रहों को एक वर्ग में और शेष सात संग्रहों को दूसरे वर्ग में गिनते हैं।

आलोचकों का यह भी मत है कि मेरी कहानियों में रचना-क्षमता के आत्मविश्वास के साथ-साथ विचार-गरिष्ठता बढ़ती गई है और कहानियाँ उत्तरोत्तर गम्भीर या बोझिल होती गई हैं। स्वीकार करता हूँ, मैं अपनी रचनाओं को उत्तरोत्तर सप्रयोजन बनाने के लिए सचेत रहा हूँ। इस वर्ग में पहला संग्रह है 'धर्म-युद्ध'। बहुत-से पाठकों ने इस कहानी को सफल हास्य ही समझा है परन्तु दूसरों ने इसे सत्याग्रह के सिद्धान्त और विधा पर भयंकर चोट माना है। 'चित्र का शीर्षक' संग्रह की कहानियों में विषय तथा विधा की बहुरूपता है। इस कहानी को संग्रह की प्रतिनिधि रचना नहीं कह सकता। यह कहानी संग्रह का शीर्षक चुनी गई क्योंकि इसे शुद्ध उत्कृष्ट कलात्मक सृजन मान लिया था। 'सच बोलने की भूल' में शीर्षक से कहानी का मन्तव्य भाँप लेने का खयाल हो सकता है। परन्तु मन्तव्य के निबाह का महत्त्व कम नहीं होता। 'खच्चर और आदमी' को सबसे वयोवृद्ध हिन्दी कहानी-लेखक (अब स्वर्गीय) श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने उंगलियों पर गिनी जा सकने योग्य अच्छी कहानियों में समझा है। सोलहवाँ संग्रह है, 'भूख के तीन दिन'। शीर्षक में ही पीड़ा की चेतावनी है। तिस पर कहानी बहुत बड़ी है। इस संग्रह के लिए निश्चित कलेवर में अटेगी

नहीं। पाठकों से विदा लेते या रिटायर होते समय उतनी पीड़ा का प्रसंग न लाकर कुछ वैसा ही प्रसंग अनुकूल रहेगा, इसलिए 'समय' कहानी दे रहा हूँ।

अपनी रचनाओं के मूलभूत सूत्र के विषय में कहना है: व्यक्ति और समाज का जीवन परम्परागत नैतिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसरण करने के लिए नहीं है। समाज की नैतिक मान्यताओं का प्रयोजन सामाजिक व्यवस्था में और समाज के उत्तरोत्तर विकास में सहायक होना है। समाज की परिस्थितियों और जीवन-निर्वाह के तरीकों में परिवर्तन स्वीकार करके अतीत में स्वीकृत मान्यताओं को अपरिवर्तनीय मानने का आग्रह संगत नहीं हो सकता। अतीत को अथवा परम्परागत मान्यताओं को समाज की वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं की कसौटी पर परखने में और उन्हें समयानुकूल बनाने में झिझक समाज के लिए घातक होगी। परम्परागत सामाजिक नियमों और मान्यताओं को अपनी सामयिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल बना सकने की चेतना निरन्तर परिवर्तन के प्रवाह में समाज की शाश्वत 'आवश्यकता अथवा समस्या' है। इस शाश्वत और मूल सामाजिक समस्या की अभिव्यक्ति के लिए विविधता का उतना ही निस्सीम और व्यापक क्षेत्र हो सकता है जितना कि मानव-समाज के जीवन का।

—यशपाल

क्रम

पहाड़ की स्मृति

अब तो मण्डी में रेल, बिजली और मोटर सभी कुछ हो गया है पर एक ज़माना था, जब यह सब कुछ न था। हमीरपुर से रुवालसर के रास्ते लोग मण्डी जाया करते थे। उस समय व्यापार या तो खच्चरों द्वारा होता था या फिर आदमी की पीठ पर चलता था। उन दिनों मैं मण्डी की राह कुल्लू गया था।

मण्डी नगर से कुछ उधर ही एक अधेड़ उमर की पहाड़िन को, बाँस की टोकरी में खुबानियाँ लिये सड़क किनारे बैठे देखा। पहाड़ी लोग अक्सर इस तरह कुछ फल-वल ले सड़क के किनारे बैठ जाते हैं और राह चलतों के हाथ पैसे-पैसे, दो-दो पैसे का सौदा बेचते रहते हैं। खुबानियाँ बहुत बड़ी-बड़ी और बढ़िया थीं।

मेरे समीप पहुँचते ही उस पहाड़िन ने बिगड़ी हुई पंजाबी में सवाल किया—"क्या तुम लाहौर के रहनेवाले हो?"

मेरी पोशाक देखकर ही शायद उसे यह खयाल आया होगा कि मैं लाहौर का रहनेवाला हो सकता हूँ।

सोचा—क्या वह मुझे पहचानती है? उत्तर दिया—"हाँ, मैं लाहौर का रहनेवाला हूँ।"

उसकी आँखें कद्रे-खुशी से चमक उठीं, उसने पूछा—"तुम परसराम को जानते हो?"

विस्मय से मैंने पूछा—"परसराम! कौन परसराम?"

कुछ व्यग्र होकर उसने उत्तर दिया— "परसराम ठेकेदार।"

कुछ मतलब न समझ फिर पूछा—"कौन परसराम ठेकेदार?"

मैं जिस ओर से चलकर आ रहा था, उसी ओर हाथ से संकेत कर उसने कहा—"वह दोनों पुल जिसने बनवाए थे।"

बात मेरी समझ में न आई। मैंने उत्तर दिया—"मैं परसराम को नहीं जानता। होगा कोई, क्यों?"

उदास हो उसने कहा—"तुम लाहौर के रहनेवाले हो। और उसे नहीं पहचानते! वह भी लाहौर का रहनेवाला है। "परसराम ठेकेदार है न?"

पहाड़िन की अधीरता से कुछ द्रवित हो मैंने पूछा—"किस गली, किस मुहल्ले का रहनेवाला है वह?"

बहुत चिन्तित भाव से एक हाथ गाल पर रखकर उसने धीरे-धीरे कहा—"गली-मुहल्ला...? गली मुहल्ला नहीं, वह लाहौर का रहनेवाला है। तुम भी तो लाहौर के रहनेवाले हो...उसे नहीं पहचानते?"

उस औरत की नादानी पर मैं हँस न सका। उसे समझाने की कोशिश की कि लाहौर बहुत बड़ा शहर है। अधिक नहीं तो दो-ढाई लाख आदमी लाहौर में बसते होंगे। वहाँ एक-

एक मुहल्ले में इतने आदमी हैं कि एक-दूसरे को नहीं पहचान सकते। मैं हीरा मण्डी में रहता हूँ। यदि परसराम ठेकेदार मजंग में रहता हो, तो वह मुझसे साढ़े तीन मील दूर रहता है, हालांकि वह भी लाहौर में रहता है और मैं भी लाहौर में रहता हूँ और हम लोगों के बीच दूसरे लाखों आदमी रहते हैं।

बात औरत की समझ न आई। उसकी आँखों की प्रसन्नता काफूर हो गई। गाल पर हाथ रखकर धीमी आवाज़ में उसने कहा—"वह लाहौर का रहनेवाला है। लम्बा है, गोरा-गोरा, प्यारी-प्यारी आँखें हैं, तुमसे कुछ जवान है, भूरा-भूरा कोट पहनता है, रेशमी साफा बाँधता है, वह लाहौर का रहनेवाला है।"

मैंने दुखित होकर उत्तर दिया—"नहीं, मैं नहीं पहचानता।"

उसकी टोकरी के पास उकड़ूँ बैठ खुबानियाँ चुन-चुनकर मैं अपने रूमाल में रखने लगा। सहानुभूति के तौर पर मैंने पूछा, "क्यों तुम्हें उससे कुछ काम है क्या?"

गहरी साँस खींचकर उसने कहा, "परसराम यहाँ पुल बनवाता था। पाँच बरस हो गए, तब वह यहाँ था। वह जाने लगा तो मैंने कहा—'मत जा।' उसने कहा, "मैं बहुत जल्दी, थोड़े ही दिन में लौट आऊँगा। वह आया ही नहीं...लाहौर तो बहुत दूर है न?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, बहुत दूर है।"

उसकी आँखों में नमी आ गई। उसने गर्दन झुकाकर कहा—"न जाने वह क्यों नहीं आया...न जाने कब आएगा...पाँच बरस हो गए, आया नहीं?" वह चुप हो गई।

कुछ देर बाद गर्दन झुकाए ही वह बोली—"उसकी राह देखती रहती हूँ, इसलिए यहाँ सड़क पर भी आ बैठती हूँ। मेरा बहुत-सा काम हर्ज होता है लेकिन दिल घबराता है तो यहाँ आ बैठती हूँ। दो और आदमी लाहौर से आए थे पर वह नहीं आया, पाँच बरस हो गए।" वह चुप हो गई।

एक छोटी-सी लड़की, प्रायः पाँच बरस की...एक ओर से दौड़ती आई। मुझ अपरिचित को देखकर वह सहम गई। फिर मुझे अलक्ष्य कर, माँ के आँचल में मुँह छिपा वह उसके गले से लिपट गई।

मैंने पूछा—"यह तुम्हारी लड़की है?"

सिर झुकाकर उसने हामी भरी। लड़की के सिर पर हाथ फेरते हुए उसने कहा —"यह भी पाँच बरस की हो गई है। इसने बाप को अभी तक नहीं देखा। देखे तो पहचान न पाए।"

उन दोनों की ओर देखते हुए मन में विचार आया—कि लोग कहते हैं, विरह प्रेम का जीवन है और मिलन अन्त। क्या वह अपने प्रेम का अन्त कर देना चाहती है? यों यह प्रेम क्या सदा बना रहेगा? फिर खयाल आया—यह स्त्री निर्लज्ज है? क्या इसका प्रेम त्याग और तपस्या का उदाहरण नहीं है?

पूछा—"कितने पैसे?"

बोली—"नहीं, पैसे क्या; तुम लाहौर के रहनेवाले हो, तुमसे पैसे क्यों?" और दोनों हाथों की अंजुली से जितनी खुबानियाँ रूमाल में आ सकती थीं, उसने भर दीं।

समझ गया औरत पैसे न लेगी। उसकी वह उदास सूरत मन में चुभ-सी रही थी। उठकर जाते भी क्रूरता अनुभव होती थी। असबाब का खच्चर दूर निकल गया होगा इस खयाल से उठना ही पड़ा। एक अठन्नी निकाल आत्मीयता के भाव से बच्चे के हाथ में देनी चाही। औरत ने इनकार किया परन्तु मेरा भाव समझकर, उसने बेटी को अनुमति दे दी।

उन्हें छोड़ मैं बस्ती की एक धर्मशाला में जा टिका। कल्पना में वही सड़क के किनारे

प्रतीक्षा में बैठी पहाड़िन दिखाई देती रही। मानो वहीं प्रतीक्षा में बैठ-बैठकर वह अपनी शेष आयु व्यतीत कर देगी।

सुबह धूप निकलने पर निकला। पैर स्वयं उसी सड़क की ओर चल दिए। चट्टानों की आड़ में मोड़ घूमकर देखा—यह औरत अपने खेतों में निराई कर रही है। आने-जानेवाले की आहट पा एक नज़र सड़क पर डाल लेती है। मालूम पड़ता था, उसके व्यथा और श्रम से क्लान्त शरीर को आशा की एक मन्द लौ ने जीवित रखा है। यह मन्द लौ परसराम के लौट आने की आशा है।

मुझे देखकर उसके चेहरे पर एक फीकी-सी मुस्कराहट फिर आई। हाथ की कुदाली एक तरफ डालकर वह बोली—"क्या लाहौर लौट रहे हो?"

उत्तर दिया—"नहीं, ऐसे ही घूमने चला आया।"

मैं उसके खेतों में चला गया। पूछा—"परसराम यहाँ कितने दिन रहा था?"

पहाड़िन ने जवाब दिया—"आठ महीने। कहता था—जल्दी ही लौट आऊँगा, अभी तक नहीं आया। जाने कब आएगा। लड़की भी तो इतनी बड़ी हो गई।"

मैंने पूछा—"तो तुम उसके साथ लाहौर क्यों नहीं चली गईं?"

उसने गाल पर हाथ रखते हुए कहा—"हाँ, मैं नहीं गई। परसराम ने तो कहा था, तू चल। पर मैं नहीं गई। देखो, मैं कैसे जाती? यहाँ सब काम कैसे छोड़ जाती? वह सामने खुबानियों के पेड़ हैं, वे नाशपातियाँ हैं, सेब हैं, दो अखरोट हैं। मैं यहाँ से कहीं नहीं गई। एक दफे जब मैं छोटी थी, मेरी मौसी मुझे अपने गाँव, वहाँ नीचे ले गई थी। उसका घर बहुत दूर है। दस कोस होगा। वहाँ बहुत वैसा-वैसा है, न यह पहाड़, न यह व्यास नदी की आवाज़, न ऐसे पेड़, रूखा-रूखा मालूम होता है। वहाँ मुझे बुखार आ गया था, तब मेरा फूफा पीठ पर लादकर यहाँ लाया। आते ही मैं चंगी हो गई। मैं कभी कहीं नहीं गई। लाहौर तो बहुत दूर है, वहाँ शायद लोग बीमार हो जाते हैं। परसराम के लिए मुझे बहुत डर लगता है। क्या जाने, क्या हाल हो? हमारे यहाँ बीमार कभी ही कोई होता है। हो भी जाए तो हर्दू जुलाहा झाड़-फूँक देता है। लाहौर में क्या कोई अच्छा झाड़नेवाला है?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, हैं क्यों नहीं, बहुत-से हैं।"

सन्तोष से सिर हिलाकर उसने कहा—"अच्छा।"

सकुचाते-सकुचाते मैंने पूछा—"परसराम के आने से पहले तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ था?"

उसने कहा—"ब्याह तो हुआ था, बहुत पहले। मुझे ब्याहकर यहाँ से मेरा आदमी तकू ले गया था। वहाँ मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं बीमार हो गई। वहाँ मेरी सौत मुझे मारती थी। मैं यहीं लौट आई। मेरा आदमी कभी-कभी यहाँ आकर रहता था। ब्याह के तीन साल बाद वह गुज़र गया। मैं माँ के पास ही रही। मैंने परसराम से कहा था—यहाँ सब कुछ है, तू कहीं मत जा। वह कहता था, मैं जल्दी आ जाऊँगा। पाँच बरस हो गए, वह अभी तक नहीं आया। देखो कब आए? अब तो दो बरस से माँ भी नहीं है।"

चौथे दिन तीसरे पहर मैं फिर उधर से गुज़रा। वह सिर झुकाए अपने खेत में काम कर रही थी। कुछ गुनगुनाती जाती थी। मैं क्षण-भर खड़ा देखता रहा शायद वह विरह का गीत गुनगुना रही थी या पिछले दिनों को याद कर रही थी। उसके ध्यान में विघ्न डालना उचित न समझा, लौट आया।

मण्डी में मैं सप्ताह-भर ठहरा। कुल्लू के लिए चलने से पहले मैं उसे फिर एक दफे देखने के लिए गया। वह अपने खेत में अनमनी-सी निराई कर रही थी। उसकी लड़की खेत

से निकाली हुई घास को दौड़-दौड़कर बाहर फेंक आती थी।

मैंने कहा—"आज जा रहा हूँ।"

उसने उत्सुकता से पूछा—"लाहौर?"

मैंने कहा—"हाँ, कुल्लू जा रहा हूँ, वहाँ से लाहौर लौट जाऊँगा।"

बड़ी आज़िज़ी से उसने कहा—"परसराम से मेरा सन्देशा ज़रूर कहना। कहना—दिन-भर सड़क ताका करती हूँ; मैं बड़ी इन्तजार में हूँ, पाँच बरस हो गए, अब ज़रूर लौट आ। तेरी लड़की तुझे पुकारती है। कहोगे न?"

मैंने कहा—"ज़रूर कहूँगा।"

अपनी बेटी को प्यार कर वह बोली—"देख, बाबू तेरे बाप के पास जा रहा है। बाबू को सलाम कर। बाबू तेरे बाप को भेज देंगे।"

"अच्छा!" कहकर मैं लौट पड़ा और फिर उधर न देख सका। ऐसा जान पड़ता था मेरी पीठ पर उसकी आँखें गड़ी जा रही हैं। मन में एक बेचैनी-सी अनुभव हो रही थी। कह नहीं सकता—परसराम के प्रति क्रोध था...पहाड़िन के प्रति करुणा थी या परसराम से ईर्ष्या...?

जहाँ हसद नहीं

नूरहसन अपने जीवन से सन्तुष्ट था। रेलवे वर्कशाप में पक्की नौकरी और घर पर नेकबख्त बीवी। बीवी को वह गाँव से ले आया था। वह बुल्लू चौधरी के हाते में एक मकान के आधे हिस्से में निर्वाह करता था। जगह छोटी थी परन्तु पर्देदार, ऊपर छत पर एक ईंट की आदमकद दीवार बनाकर दो मकान बना दिए थे। ज़ीना दोनों तरफ अलग था। नूरहसन दाईं तरफ के हिस्से में रहता था। न किसी से लेना, न किसी का देना। वर्कशाप में काम और घर पर आराम।

बीवी के लिए नूरहसन ने सफेद बुरका सिलवा दिया था। इतवार या छुट्टी के दिन बीवी को बुरका ओढ़ाकर तीसरे पहर सैर के लिए ले जाता। कहीं किसी खोंचेवाले के पास कोई अच्छा फल या मिठाई बीवी को पसन्द आ जाती तो वह इशारा कर, दो कदम हटकर खड़ी हो जाती और नूरहसन खरीद लेता। घर लौटकर दोनों खाते। दोनों नेकबख्त और सआदतमन्द, अपने काम और अल्लाह से वास्ता। जब कभी इतवार को भी मियाँ की ड्यूटी वर्कशाप में लग जाती तो सआदत को बहुत बुरा लगता। खैर, नौकरी का मामला था, मजबूरी थी।

एक दोपहर सआदत नहाने के बाद अपनी छत के हिस्से में मचिया पर बैठ, धूप में बाल सुखाकर कंघी कर रही थी। बीच-बीच में वह नीले आकाश में उड़ती रंग-बिरंगी पतंगों के दाँव-पेच भी देखने लगती। सामने के मकान की छत पर हिन्दू पड़ोसिनें चटाइयाँ बिछाकर बड़ियाँ तोड़ रही थीं। सआदत जाड़े की धूप से अलसाकर धीरे-धीरे कंघी से अपने बाल और उंगलियों से कंघी को साफ कर रही थी। किसी की आँखें वहाँ पहुँचकर उसे छेड़ नहीं सकती थीं। उसने यों ही बाईं ओर नज़र की तो दीवार के परे से दो आँखें उसकी ओर देख रही थीं। वह घबरा उठी और भीतर भाग गई। भीतर जाते-जाते उसने एक बार फिर घूमकर देखा, सचमुच ही वह उसकी ओर देख रहा था।

सआदत जानती थी, जो लोग दूसरों की औरतों को देखते हैं वे भले मानस नहीं होते। बदमाशों की नज़र कैसी होती है, यह तो वह ठीक से नहीं जानती थी परन्तु इस नज़र में कोई तेज़ी न थी जिससे वह डर जाती। फिर भी उसे कोई क्यों देखे? उसने भीतर बैठकर चोटी बाँधी और दुपट्टा सिर पर ले लिया। कंघी में से निकले बाल पड़नाले की मोरी में फेंकने गई तो उसने एक बार फिर जानना चाहा, अब तो नहीं देख रहा? वह देख रहा था पर उसी तरह, अप्रतीक्षा की आतुर नज़र से, झपट लेनेवाली तीखी नज़र से नहीं।

सआदत ने मन को समझा लिया—जाने दो, अपने को क्या? चूल्हा जलाकर खाना पकाने में लग गई। उसे मालूम था कि उस ओर औरत कोई नहीं रहती; कभी देखी जो नहीं थी।

रात में उसने मियाँ से कोई ज़िक्र नहीं किया, ज़रूरत भी क्या थी? खामखाह उसके

दिल को बुरा लगता। दूसरे-तीसरे दिन उधर उसे कोई दिखाई न दिया लेकिन चौथे दिन उधर से दीवार पर सूखने डाला हुआ एक तहमद उड़कर इधर आ गिरा था। सआदत ने सोचा—मुझे क्या? तहमद अपना तो है नहीं। फिर सोचा, पड़ोसी परेशान होगा। तहमद उठा, तहाकर उसने दीवार पर रख दिया परन्तु उधर देखा नहीं। बाद में उसे मालूम हो गया कि उधर से देखनेवाली आँखें सुबह नौ बजे से पहले और शाम को पाँच बजे के करीब ही देखती थीं। होगा, अपने को क्या? उसने सोचा। लेकिन आँगन में जाने पर वह देख लेती थी, कोई देख तो नहीं रहा। अपने पर्दे का खयाल जो था।

एक दिन पड़ोसी ने सलाम कर दिया। सआदत शरमा गई। ऐसे तो नहीं करना चाहिए। उसने सोचा, लेकिन बुरी बात तो कोई की नहीं। शिकायत की तो कोई बात है नहीं। होगा, अपने को क्या? मन-ही-मन उसने कहा—है तो मर्द, पर सीधा लगता है।

नूरहसन के वर्कशाप से लौटने का समय होता तो सआदत खिड़की की राह चिक से देखने लगती थी। उस दिन हसन को देर हो गई थी। वह बड़ी चिन्ता से राह देख रही थी और जब नूरहसन दूर से लकड़ी टेकता, लंगड़ाता आता दिखाई दिया तो सआदत के सिर पर मानो पहाड़ टूट पड़ा। ज़ीने से लपककर दौड़ती हुई नीचे गई।

"हाय-हाय, यह क्या हुआ?" वह मियाँ से लिपटकर रोने लगी। उसे सहारा दे ज़ीने पर चढ़ाकर ऊपर लाई। नूरहसन के घुटने पर एक भारी बेलन गिर जाने से चोट आ गई थी। घुटना सूज गया था। आधी रात तक सआदत ने नमक की पोटली से सेंक किया और फिर तकिये से रूई निकालकर पट्टी बाँध दी। पति के घुटने को गोद में लिये उसने सारी रात बिता दी परन्तु घुटना सुबह तक सूजकर दूना हो गया। नूरहसन के लिए हिलना मुश्किल था। करता तो क्या?

चिन्ता से नूरहसन ने सोचा—छुट्टी की अरज़ी वर्कशाप कैसे भेजूँ? दवाई तो भला सआदत बुर्का ओढ़कर पंसारी की दूकान से ला सकती थी। सआदत ने बताया—"दीवार के परे एक मुसलमान भाई रहता है, इतना तो कर ही देगा। इसमें क्या है?"

नूरहसन बहुत सोच-समझकर लकड़ी के सहारे छत को बाँटनेवाली दीवार तक पहुँचा और पड़ोसी को पुकार, सलाम कर उसने अपनी विपदा सुनाई।

पड़ोसी ने बहुत हमदर्दी से आश्वासन दिया—"तुम खाट पर लेटो, मैं आकर सब कर देता हूँ।" थोड़ी देर में नीचे से ज़ीने की साँकल खटकी। सआदत को खोलने जाना पड़ा। बुरका ओढ़कर वह गई और साँकल खोल पड़ोसी के ज़ीने में आने से पहले ऊपर चढ़ आई।

पड़ोसी का नाम था हबीब। यही कोई अट्ठाईस-तीस बरस का। शरीफ, जवान, रेल के दफ्तर का बाबू। उसने अरज़ी लिखकर पहुँचा देने की तसल्ली दी और पंसारी के यहाँ से दवाई का सामान, तरकारी, मसाला तक बाज़ार से ला दिया। शाम को फिर आकर वह ज़रूरत की बात पूछ गया। इसी तरह लगातार तीन-चार दिन तक चला। सआदत ने सोचा—भला आदमी है सो तो पहले ही मालूम होता था।

नूरहसन के घुटने का हाल बिगड़ता ही गया। हकीम ने राय दी—"हस्पताल ले जाओ।"

सआदत रोने लगी। गरीब मज़दूर को हस्पताल में कौन जगह देता लेकिन हबीब ने अंग्रेज़ी बोलकर सब काम ठीक करा दिया।

नूरहसन के घुटने का आपरेशन हुआ। सआदत रोज़ खाना बनाकर बुरका ओढ़कर तैयार हो जाती और हबीब उसे हस्पताल संग ले जाता और लिवा लाता, परन्तु सिवाय

सलाम के कोई बात नहीं। हबीब हस्पताल से लौटकर अपना खाना बनाता। नूरहसन और सआदत दोनों पड़ोसी की तारीफ करते और शुक्रिया अदा करते।

एक दिन सआदत से न रहा गया। उसने बुरके में से कहा—"हस्पताल से लौटकर चूल्हा किस तरह जलाओगे? अपना आटा पकड़ा देना, तुम्हारे भी दो मण्डे (रोटियाँ) सेंक दूँगी।"

"क्यों तकलीफ करोगी? तुम खुद मुसीबत में हो!" हबीब ने जवाब दिया।

"मुसीबत तो है ही, पर तुम इतना कर रहे हो! इतना कोई क्या दूसरा करता है?" सआदत हबीब की भी दो रोटियाँ सेंक देती और वहीं उसे खिला भी देती। अब उससे बुरका क्या करती? चेहरे के सामने दुपट्टा किए रहती और हबीब ने उसे देखा तो हुआ ही था।

नूरहसन का घुटना आहिस्ता-आहिस्ता ठीक हो रहा था। ईद आ गई। हबीब ईद के लिए कुछ मिठाई, फल लेकर आया। सआदत ने भी उस दिन नये कपड़े पहने थे। आकर हबीब ने कहा—"सलाम! ईद मुबारिक!"

हँसकर सआदत ने भी 'ईद मुबारिक' कहा। एक रकेबी में पुलाव निकालकर उसने हबीब के सामने रखा और कहा—"खाओ।"

"नहीं," हबीब ने सिर हिला दिया।

"हाय, क्यों?"

"ऐसे ही!"

"खाओ न, आज तो ईद है!"

"हाँ, पर तुमने हमसे ईद कहाँ मिली?"

"हाय, अल्लाह," शरमाकर सआदत ने कहा—"ऐसा थोड़े ही कहते हैं, खाओ न!"

"जाने दो, मन नहीं है तो!"

हबीब उदास हो गया।

हबीब के वे सब अहसान सआदत की आँखों के सामने आ गए। कितना भला और सीधा आदमी है! बेबस होकर सआदत ने कहा—"अच्छा!" और शरमाकर खड़ी हो गई।

हबीब ने ईद मिली और उसका माथा चूम लिया। सआदत के गाल सुर्ख हो गए। उसने आँखें झुका लीं।

हबीब ने पूछा—"नाराज़ हो गईं क्या!"

सआदत ने सिर हिलाकर इनकार कर दिया।

हबीब ने कहा—"आओ, एक साथ खाएँगे।"

सआदत घबराई लेकिन हबीब ने अपने सिर की कसम दे दी तो मान लेना पड़ा। दोनों ने एक ही रकेबी में पुलाव खाया।

हबीब सआदत को हस्पताल से वापस लाता तो उसके यहाँ खाना खाकर ही जाता। लौटने से पहले कुछ देर बैठ लेता, बातें होती रहतीं।

सआदत ने पूछा—"अपने हाथों चूल्हा फूँकते हो, ब्याह क्यों नहीं कर लेते?"

हबीब ने कहा—"अपना कोई है ही नहीं। गरीब आदमी हूँ, मेरी कौन फिक्र करता है?"

सआदत के दिल में बरछी-सी लगी। उस दिन से वह उससे और स्नेह से बात करने लगी। सुबह-शाम दोनों घंटा-डेढ़ घंटा एक साथ बैठते।

नूरहसन का घुटना ठीक हो गया और वह घर लौट आया। सआदत ने अल्लाह का

शुक्र किया और पीर की मन्नत पूरी की। हबीब उसके घर आता-जाता रहता था। नूरहसन जानता था, हबीब अच्छा आदमी है। परन्तु पड़ोस की चुगलियों का क्या करता? उसने सआदत से कहा—"मकान बदल लें!" पर सआदत ने इनकार कर दिया। वह कहीं जाने को तैयार न थी, चाहे उसके टुकड़े कर देते।

दुःखी होकर नूरहसन बोला—"ऐसी बात है तो मैं तुझे तलाक दिए देता हूँ, फिर जहाँ चाहे तू खाक फाँकना।" सआदत न मानी। नूरहसन को वह छोड़ नहीं सकती।

नूरहसन की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। जिस लाठी को टेककर वह चलता था उसी से सआदत को खूब पीटा। सआदत ने मार खा ली परन्तु चूं नहीं की। नूरहसन ने धमकी दी—"अगर अब तूने दीवार से झाँककर बात की तो मैं तुझे कत्ल कर दूँगा और तेरे उस 'यार' को भी कत्ल कर दूँगा!"

सआदत आँगन में जाती तो आँखें नीचे किए रहती। तीन दिन तक उसने आँखें ऊपर नहीं उठाईं।

नूरहसन की ड्यूटी रात में वर्कशाप में रहती तो ज़ीने पर ताला लगा जाता था और आधी रात में लौटता था। जाड़ों की रात थी। सआदत ऊपर पड़छत्ती में चौके का काम निपटाकर चूल्हे में बची आँच के सामने बैठी आग ताप रही थी। समीप ही हरिकेन लालटेन जल रही थी। कुछ आहट-सी सुन उसने पीछे घूमकर देखा, दीवार के पास हबीब था। एक मुड़ा हुआ पुर्ज़ा सआदत की छत पर डाल वह चला गया। सआदत का कलेजा धक्-धक् करने लगा, पुर्ज़ा उठाए या नहीं! रहा न गया। वह पुर्ज़ा उठा लाई।

सआदत ने पुर्ज़ा खोलकर लालटेन के सामने रखकर पढ़ा। हबीब ने मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—"प्यारी जान सआदत, तुम बड़ी बेरहम हो! तीन दिन से तुम्हारा मुँह देखने को नहीं मिला। आँखें तरस गईं। रात में दस बजे तक ओस में खड़ा तुम्हारी राह देखा करता हूँ, पर तुम दिखाई नहीं देतीं। आज कसम खा ली है, तुम्हारा मुँह नहीं देख लूँगा तो मुझे लुकमा हराम है। तुम्हारा गुलाम—हबीब।"

सआदत झपटती हुई बाहर आई। दीवार पर से उचककर उसने देखा—सचमुच हबीब उसके घर की ओर मुँह किए खड़ा था। सआदत ने उसे पुकारकर कहा—"पागल हो, खाना क्यों नहीं खाया? तुम नहीं जानते, मैं बेबस हूँ? जाओ, खाना खाओ!"

हबीब ने कहा—"रहने दो इस बात को।"

"क्यों?"

"बनाया ही नहीं।"

"ठहरो, मैं लाए देती हूँ।"

"क्यों, मियाँ कहाँ हैं?"

"रात की ड्यूटी पर गए हैं।"

"वहीं आ जाऊँ, कुछ देर तुम्हारे पास बैठूँगा।"

सआदत ने सिर झुकाकर मान लिया।

हबीब दीवार कूदकर सआदत के घर आ गया। सआदत ने कटोरी में दाल और तश्तरी में रोटी हबीब के सामने रख दी। हबीब ने कौर मुँह में रखा ही था कि लालटेन की रोशनी में सआदत के माथे की चोट देखकर उसने पूछा—"यह क्या"?

सआदत चुप रह गई।

"मियाँ ने मारा है?"

सआदत रोने लगी।

हबीब ने खाना छोड़ दिया। उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। सआदत अपने हाथों से लुकमे बना उसे खिलाने लगी, परन्तु हबीब को मालूम हो रहा था जैसे रेत चबा रहा है।

दोनों खाट पर बैठे बातें करने लगे, फिर लेट गए। उन्हें पता न लगा, समय कब और कहाँ बीत गया। ज़ीने में नूरहसन की लकड़ी की आहट पर हबीब उठकर भाग गया।

सआदत का रूप और व्यवहार देख नूरहसन को कुछ सन्देह हुआ। उसने पूछा, "हबीब आया था?"

सआदत रोने लगी। नूरहसन दोनों हाथों से सिर थामे बैठ गया। वह सोच रहा था, क्या करे? औरत को मारने से फायदा क्या? उसने ज़िन्दगी में एक ही बार सआदत को पीटा था वही आखिरी भी था। वह दरअसल सआदत को प्यार करता था। बीवी की सच्चाई उसे कायल कर देती थी परन्तु ज़िल्लत की ज़िन्दगी!

"तू ही बता, मैं क्या करूँ सआदत?" नूरहसन ने पूछा।

आँखें फर्श की ओर झुका सआदत ने उत्तर दिया—"यह ज़िन्दगी का रोग है, ज़िन्दगी के साथ जाएगा। मैं मर जाऊँ। मैंने कई दफे सोचा, मैं कुछ खाकर सो रहूँ। खुदकशी से डरती हूँ, दोजख की आग में जलूँगी!"

"तो फिर?" नूरहसन ने पूछा।

नूरहसन के पैर पकड़ सआदत बोली—"तुम कलमा पढ़कर मुझे ज़िबह कर दो! मैं बहिश्त चली जाऊँगी। वहाँ तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी।"

एक लम्बी साँस खींचकर नूरहसन खाट पर लेट गया। वह छत की ओर देखता रहा। रात बीत गई। सुबह की सफेदी आकाश पर छाने लगी परन्तु दिन नहीं निकला था। वह प्रतीक्षा में था। ऊँचे मकानों की छत पर सूर्य की किरणें फैल जाने पर वह एक लम्बी साँस लेकर उठा। उसकी आँखें पत्थर की तरह स्थिर थीं। उसकी आवाज़ धीमी परन्तु दृढ़ थी। उसने सआदत की ओर बिना देखे ही कहा—"तू नहा-धोकर पाक-साफ हो जा, मैं बाज़ार से होकर आता हूँ।" वह ज़ीने से उतर गया।

सआदत भी अन्तिम निश्चय कर चुकी थी। उठकर नहाई और ईद के दिन के साफ कपड़े पहन लिये। फिर छत पर दीवार के पास जाकर उसने हबीब को पुकारा। उसका स्वर निर्भय था और आँखों में विजय की बावली-सी प्रसन्नता।

"प्यारे, आओ मिल लो!" उसने स्वयं हबीब के गले में बाँहें डालकर कहा—"घबराओ नहीं, फिर मिलेंगे। हम जाते हैं।"

"कहाँ?" हबीब ने आश्चर्य से पूछा।

"उस दुनिया में...जहाँ हसद नहीं होता!" हबीब के सिर को सीने पर ले उसने प्यार किया, चूमा और फिर कहा—"बस, सलाम!" सआदत चली गई। हबीब कुछ देर सोचता रहा, फिर घबराकर नीचे गली में दौड़ गया।

नूरहसन लौट आया। सआदत ने दीवार के पास खाट पर धुली हुई दोहर बिछा दी थी। कुरान शरीफ सिरहाने रखकर वह लेट गई। नूरहसन ने जेब से उस्तरा निकाला। वह कलमा पाक पढ़ता जाता था और काँपते हुए हाथ से उस्तरे की धार सआदत के गले पर फेरता जा रहा था। सआदत की आँखें मुँदी थीं।

खून की धार बहती देखकर सआदत ने अपनी उंगली तर कर दीवार पर अल्हड़ अक्षरों में लिख दिया— 'हबीब!' और दूसरी बाँह नूरहसन के गले में डालकर उसका माथा झुकाकर चूम लिया।

ज़ीने में नीचे ज़ोर की भड़भड़ाहट सुनाई दी और फिर धक्के से साँकल उखड़ गई।

पल भर में पुलिस और हबीब सआदत की खाट के पास पहुँच गए।

सआदत ने आँखें खोलकर देखा। पुलिस पूछ रही थी—"खून किसने किया?"

नूरहसन हाथ में उस्तरा लिये एक ओर खड़ा था। उसका चेहरा बिल्कुल पीला था।

सआदत ने उंगली सीने पर रखकर इशारा किया।

खून से भरा उस्तरा नूरहसन के हाथ में था। उस ओर इशारा कर पुलिस ने पूछा—"उस्तरा उसके हाथ में कैसे हैं?"

सआदत के होंठ हिले परन्तु आवाज़ न निकल सकी। पुलिस ने पूछा—"क्या उस्तरा तुमसे छीन लिया है?"

सआदत ने आँखें झुकाकर हामी भरी। सआदत की आँखें फिर न खुलीं।

ज्ञानदान

महर्षि दीर्घलोम प्रकृति से ही विरक्त थे। गृहस्थ-आश्रम में केवल थोड़े ही समय के लिए रह पाए थे। उस समय ऋषि-पत्नी ने एक कन्यारत्न प्रसव किया था। महर्षि भ्रम और मोह के बन्धनों को ज्ञान की अग्नि में भस्म कर, वैराग्य साधना द्वारा मुक्ति पाने के लिए नर्मदा-तीर पर आश्रम में आ बसे थे। ऋषि-पत्नी भी पुत्री के साथ एक पर्णकुटी में उन्हीं के समीप रहती थीं। वे भी ऋषि पति की सेवा-भक्ति कर, उनके ज्ञान के प्रकाश में, जीवन के दुरूह दुःख—मायामय भंवर से मुक्ति पाने की आशा करती थीं।

महर्षि ने अपनी कन्या की आत्मा को पहले गृहस्थ के माया बन्धन के कीचड़ में फँसने देकर, फिर तपश्चर्या द्वारा मुक्ति की साधना का मार्ग दिखाने की अपेक्षा उसे आरम्भ से ही तप और त्याग द्वारा मुक्ति के मार्ग की दीक्षा दी थी। वन्यलता-द्रुमों और तपोवन के पशु-पक्षियों की संगति में पली ब्रह्मचारिणी सिद्धि का शारीरिक और मानसिक वासना से कोई परिचय न था। आश्रम के नियमों के अनुसार आत्मा मुख्य और शरीर गौण था। ब्रह्मचारिणी सिद्धि अपने शारीरिक विकास से उन्मुख रहकर आत्मा को पहचानने में ही तत्पर रहती थी।

सिद्धि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए छब्बीस वर्ष की आयु को प्राप्त हुई। उसके सिर के लम्बे केशों ने अलंकार और प्रसाधन के साधनों का स्पर्श कभी न किया था। उसके उपेक्षा से पीठ पर फेंके हुए दीर्घ केशों का श्रृंगार नर्मदा नदी के जल में स्नान करते समय उछल जानेवाले अबरक के कण और काई ही थे। उसके मस्तक पर प्रायः स्नान का चिह्न, नदी-पुलिन के त्रिपुण्ड की खौर रेखा विद्यमान रहती थी। शरीर का बोझ बनते हुए उच्छृंखल उरोज केले की छाल में पीठ पीछे बँधे रहते थे। कमर के नीचे का भाग मृगचर्म से ढका था। वह ऋषि-उपदेश के अनुसार शरीरिक आवश्यकताओं को आत्मा का शत्रु समझ उनका सदा दमन करती थी। प्राणायाम और समाधि द्वारा मन और इच्छाओं का निग्रह करना उसके लिए सुख था। वह क्षणिक सुखों की अनुभूति की इच्छा को पाप समझकर सदा चिरन्तन सुख की ही कल्पना करती थी। वह सुख था, सुख की इच्छा का न होना। वह ब्रह्मचारिणी थी; संयम ही उसका जीवन था।

नर्मदा तट पर महर्षि दीर्घलोम का आश्रम पर्वतों की गुफाओं से घिरी वनस्थली में था। गोदावरी, गंगा, यमुना और हिमालय तक के तपोवनों में महर्षि दीर्घलोम के अनासक्ति-योग की चर्चा थी। उनके यहाँ कर्मकाण्ड का महत्त्व केवल वैराग्य साधना के लिए ही था। उनका उपदेश था—"कर्मों और संस्कारों के बन्धनों में फँसी मनुष्य की आत्मा माया के आकर्षण से निर्बल होकर जीवन और मृत्यु के बन्धनों में दुःख पाती है। दुःख से मुक्ति और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का मार्ग कर्म और संस्कारों के बन्धनों से आत्मा को मुक्त करना है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। चिर आनन्द

मुक्ति है।”

महर्षि दीर्घलोम अनासक्ति के मार्ग में विश्वास करते थे। उनका उपदेश था—”संग से मोह उत्पन्न होता है, मोह से काम, काम से क्रोध और क्रोध से बुद्धि-विभ्रम। बुद्धि-विभ्रम सर्वनाश है।” महर्षि परम ज्ञानी और वेदोद्गाता थे। अमरत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु ब्रह्मचारियों का दल उनके चारों ओर बना रहता था। दूर-दूर से राजा और ऋषि अनासक्ति योग का उपदेश लेने वहाँ आते थे। चातुर्मास आने पर अनेक परिव्राजक संन्यासी भी आश्रम में आ टिकते थे।

चातुर्मास आरम्भ होने पर आश्रम में निवास करने के लिए आए परिव्राजक तपस्वियों में ब्रह्मचारी नीड़क भी आए थे। ब्रह्मचारी नीड़क को यौवन से पूर्व ही ज्ञान-लाभ हो गया था। उन्होंने सांसारिक मोहजाल में न फँसकर ब्रह्मचर्य से ही वैराग्य का मार्ग ग्रहण कर लिया था। आयु अधिक न होने पर भी उनका ज्ञान और योग परिपक्व था। उन्होंने विषयों की निस्सारता के तत्त्व को ज्ञान चक्षु द्वारा पहचानकर परम सत्य ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लिया था। अनासक्ति और समाधि द्वारा उनका मर्त्यलोक और ब्रह्मलोक में समान अधिकार था। वे एक ही समाधि में दस और पन्द्रह दिन तक बैठे रहते थे। एक समय समाधि-अवस्था में, उनकी जटा में एक गौरैया ने नीड़ (घोंसला) बना लिया था। तब से उनका नाम ‘नीड़क’ पड़ गया था। उनकी समाधि की शक्ति की महिमा दसों दिशाओं में फैल गई थी।

महर्षि दीर्घलोम ने ब्रह्मचारी नीड़क की अभ्यर्थना की और उनसे प्रार्थना की कि वे अपने अलौकिक ज्ञान की शक्ति से उन लोगों का अज्ञान दूर करें जो ज्ञान-योग के नाम पर तर्क का आश्रय लेकर, बुद्धि की लम्पटता द्वारा अपनी वासना को तृप्त करने की चेष्टा करते हैं।

यज्ञ-कुण्ड में सुलगती हुई पवित्र समिधाओं, घृत और सुगन्धित फूलों के पुनीत धूम्र से आश्रम का वातावरण सुवासित हो रहा था। उस सुगन्ध को वन-प्रान्त से आई बनैली मालती और पाटल के फूलों की सुगन्ध की लहरें अधिक रुचिर बना रही थीं। आश्रम के विशाल वट वृक्ष के नीचे ऋषिवृन्द ब्रह्मचारी नीड़क का प्रवचन सुनने के लिए एकत्र थे। कुछ वृद्ध तपस्विनियाँ और ऋषि-पुत्री सिद्धि भी बाईं ओर बैठी थीं।

ऋषियों की अभ्यर्थना में फैली हुई बलि की चारु का भोजन पाकर आश्रम-निवासी मृग तृप्ति से किल्लोलें कर रहे थे। वृक्षों की टहनियों पर बैठे पक्षी अपने पंखों को चोंच से सहलाकर कलरव कर रहे थे। ज्ञानधनी ऋषि लोग इन सब सांसारिकताओं से विरक्त ब्रह्मचारी नीड़क द्वारा चिरन्तन अविनाशी सुख की प्राप्ति पर प्रवचन सुन रहे थे।

ब्रह्मचारी नीड़क का मुख-मण्डल जटाजूट और श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) से ढका था। उनके मस्तक पर नर्मदा के पुलिन का खौरा त्रिपुण्ड शोभायमान था। उनके नेत्रों से ज्ञान की उग्र ज्योति निकल रही थी। उनमें आत्मविश्वास का तेज था। उनके लोमपूर्ण विशाल वक्षस्थल से क्षीण कटि पर मूंज का यज्ञोपवीत लटक रहा था। तपस्या से क्षीण उनके उदर पर त्रिवलि पड़ रही थी। कटि से नीचे शरीर मूंज के वस्त्र से ढका था। वे पद्मासन की मुद्रा में बैठ चार घड़ी तक प्रवचन करते रहे।

ब्रह्मचारी नीड़क ने कहा—”तर्क बुद्धि का विकार है। बुद्धि संस्कारों से आवेष्टित है। मनुष्य की इच्छा और वासना ही उसके तर्क का मार्ग निश्चित करती हैं, इसलिए तर्क प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से वासना के मार्ग का प्रतिपादन करने लगता है।”

ब्रह्मचारी कहते गए—”ब्रह्मज्ञान अनुभूति द्वारा ही प्राप्त होता है। अनुभूति ही प्रधान

है। तर्क भी अनुभूति पर आश्रित है। सृष्टि की कारणभूत शक्ति, मायामय प्रकृति और मनुष्य की अनुभूति—यह सब एक हैं। जिस प्रकार वायु के स्पर्श से जल की सतह पर उठनेवाले बुलबुले का अस्तित्व सारहीन है, वह क्षणभंगुर है, वह वास्तव में महत जल-राशि का अंश-मात्र है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन संस्कारों के वायु के स्पर्श से ब्रह्म के अपार सागर में उठ जानेवाला बुलबुला मात्र है। जीवन का यह बुलबुला सत्य नहीं हो सकता। सत्य और अमर शाश्वत ब्रह्म ही है। संस्कारों का आधार मनुष्य की वासना है। यह वासना संस्कार रूपी वायु से जीवन का बुलबुला खड़ा कर देती है। यह बुलबुला ही अहम् का भाव और दु:ख का कारण है।

"आत्मा ब्रह्म का अंश है; शरीर ब्रह्म का क्रीड़ा-प्रकृति का अंश है। इनके संयोग का अस्तित्व अस्थिर है। हमारे दु:ख और सुख की अनुभूति केवल भ्रम है। संस्कारों की वायु से उत्पन्न बुलबुले का जल में मिल जाना ही आत्मा का ब्रह्म में मिल जाना है। यही चिरसुख, परमपद है। क्षणिक सुख जब नष्ट होते हैं तब दु:ख की अनुभूति होती है। वास्तविक सुख, क्षणिक सुख को छोड़कर, चिरसुख जीवन-मुक्ति की, साधना में ही है। चिरसुख इच्छाओं को जीतने में है, जिसका मार्ग समाधि है। समाधि शरीर के व्यवधान को पार कर आत्मा से परमात्मा के संयोग का साधन है। शरीर आत्मा का कारागार है। शरीर का मोह करना इस कारागार को दृढ़ बनाना है। भ्रम में फँसनेवाली शरीर की पुकार की चिन्ता ज्ञानी व्यक्ति को नहीं करनी चाहिए। शरीर की चिन्ताओं से मुक्ति पाना ही परम मुक्ति का मार्ग है।"

ब्रह्मचारी नीड़क की दृष्टि अपने शब्दों का प्रभाव देखने के लिए श्रोत्रवृन्द के चेहरों पर घूम जाती थी। कुछ तपस्वी नेत्र मूँदे समाधिस्थ होकर इस ज्ञान को मनस्थ कर रहे थे। कुछ की दृष्टि जिज्ञासु भाव से वक्ता के मुख की ओर लगी हुई थी।

ब्रह्मचारी नीड़क ने अपनी बाईं ओर देखा। उस ओर आश्रम की तपस्विनियाँ बैठी हुई थीं। यौवन ने उनके शरीर को व्यय करके छोड़ दिया था। जीवन में सुख की कोई आशा शेष न रहने पर उनके उत्सुक नेत्र, जर्जर शरीर की गुफाओं से ब्रह्मचारी के सुख की सान्त्वना देनेवाले शब्दों को निगलने का यत्न कर रहे थे। उनकी रीढ़ें झुक गई थीं। बकरे के गले से लटकने वाले थनों की भांति निष्प्रयोजन हो गए उनके स्तन उनके पालथी मारे घुटनों को छू रहे थे। उनके शरीर चूसकर फेंके हुए आम के छिलकों के समान जीवन की निस्सारता की याद दिला रहे थे।

वृद्ध तपस्विनियों के बीच में बैठी हुई थी ब्रह्मचारिणी सिद्धि। उसके सुरक्षित यौवन का रूप तप की अग्नि में तपकर और भी अधिक प्रखर हो रहा था। वह बिखरी हुई खाद के बीच में उग आए सूर्यमुखी के फूल के समान जान पड़ती थी। उसके सिर पर जटा का जूड़ा बँधा हुआ था। उसकी लम्बी पलकें मुँदी हुई थीं। कठोर जीवन के कारण त्वचा पर फैली शुष्कता को भेदकर यौवन का स्निग्ध लावण्य फूटा पड़ता था। उसके वक्षस्थल का उभार कदली की छाल में समेटकर मूँज की रस्सी से पीठ पीछे बँधा था। ब्रह्मचारिणी मेरुदण्ड को बिलकुल सीधा कर समाधि के आसन में बैठी थी। उसके सुडोल बाहु प्रात:स्नान के चिह्न लिये पद्मासन की मुद्रा में रखे थे। उसके निश्चल शरीर से जीवन की स्फूर्ति की किरणें फूल रही थीं।

ब्रह्मचारी नीड़क पर ब्रह्मचारिणी सिद्धि की उपस्थिति का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। उन्होंने अपने प्रवचन में कहा—"वैराग्य और समाधि के लिए उपयुक्त समय यौवन ही है।..." परन्तु वे थम गए और कुछ सोचकर बोले—"जीवन में जिस समय भी मनुष्य आसक्ति का भ्रम समझ पाए और निवृत्ति से परम सुख का बोध उसे हो जाए, वैराग्य

साधना के लिए वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना परम सुख की उपेक्षा करना है।"

ब्रह्मचारी ने व्याख्या की—"वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ निस्तेज होकर सांसारिक सुख के स्थूल साधनों को भोगने में भी असमर्थ हो जाती हैं; ऐसी निर्बल इन्द्रियाँ वायु से भी सूक्ष्म आत्मा को और जल के प्रवाह से भी अधिक प्रबल मनोविकारों के वेग को किस प्रकार रोक सकेंगी? वे परम सुख के अत्यन्त सूक्ष्म साधन ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगी?" ब्रह्मचारी का अभिप्राय वृद्ध तपस्विनियों के जराजीर्ण, फल्गुमात्र, अरुचिकर शरीरों से था। उन्होंने कहा—"वृद्धावस्था का वैराग्य वासना से इन्द्रियों की पराजय है।" यौवन का आत्मविश्वास ब्रह्मचारी के विशाल वक्षस्थल में उमंग लेने लगा। उन्होंने कहा —"जिस समय शरीर के ओज और स्पन्दन की शक्ति से स्फूर्ति का प्रकाश फैलता है, वही समय वासना से युद्ध करने और ज्ञान-उपार्जन तथा कठोर साधना का है।" उनकी दृष्टि सबल श्वास की गति से स्पन्दित, ब्रह्मचारिणी के वक्षस्थल की ओर चली गई।

मध्याह्न प्रवचन समाप्त होने पर ऋषि लोग कन्द-मूल का आहार करने के लिए चले गए। ब्रह्मचारी नीड़क अपने विचारों में उलझे हुए नर्मदा-तट पर जाकर नदी की लहरों का प्रहार सहते एक विशाल खण्ड पर बैठ गए। क्षुधा की अनुभूति ने उन्हें चेतावनी दी, यह समय कन्द-मूल के सेवन का है। उन्होंने शरीर की उस पुकार की चिन्ता न की। शरीर का कठोर दमन उसकी पुकार की उपेक्षा ही तपस्या है। इस तप का अत्यन्त सजीव उदाहरण ब्रह्मचारिणी सिद्धि के रूप में उनके सम्मुख था, परन्तु युवती के ध्यान को वे मन में आने देना उचित न समझते थे।

ब्रह्मचारी जल के प्रवाह पर दृष्टि लगाए विचार में मग्न थे। वे स्वच्छ जल में किल्लोल करती मछलियों को देखते हुए, दुःखों की मूल वासना से मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगे, परन्तु विचारों के क्रम में ब्रह्मचारिणी सिद्धि का समाधिस्थ रूप दिखाई पड़ जाता; सीधे मेरुदण्ड, उन्नत मस्तक, नासिका, चिबुक, उरोजों की सन्धि और त्रिवलियों में छिपी नाभि सब एक सीधी रेखा में।...मृगचर्म से आवृत्त शरीर के अधोभाग के सम्मुख पद्मासन में एक-दूसरे पर रखी हुई पिण्डलियाँ और हथेलियाँ।

ब्रह्मचारी ने इसके पूर्व भी नारी को देखा था। उन्होंने अनेक बार पलित-अंग तपस्विनियों और शरीर को वस्त्रों में लपेटकर राजमार्ग पर चलती हुई पाप और मोह में लिप्त आत्मा—नगर की स्त्रियों को देखा था। उनकी ओर दृष्टिपात करने की इच्छा भी ब्रह्मचारी नीड़क के मन में न हुई थी। परन्तु ब्रह्मचारिणी सिद्धि का समाधिस्थ रूप बार-बार उनकी कल्पना में आ खड़ा होता था। उन्हें याद आ जाता—ब्रह्मचारिणी नेत्र मूँदे थी परन्तु अनेक श्रोता-ब्रह्मचारी, ऋषि और तपस्विनियाँ एकटक उनकी ओर देख रही थीं—सिद्धि नेत्र क्यों मूँदे थी? ब्रह्मचारी के मन में प्रश्न उठने लगा।

ब्रह्मचारी ने स्वयं अपने प्रश्न का उत्तर दिया—प्रवचन को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए। उसी क्षण विचार आया—सम्भवतः इसलिए कि वह उन्हें देखना नहीं चाहती थी। परन्तु वह देखना क्यों नहीं चाहती थी? सिद्धि को उनसे क्या भय हो सकता था?

ब्रह्मचारी ने स्वयं ही उत्तर दिया—समाधि के लिए वे भी तो नेत्र मूँद लेते हैं। उस समय किस वस्तु से भय होता है। उत्तर मिला—संसार के दुखों से मुक्ति पाने के लिए ही नेत्र मूँदकर संसार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया जाता है।

ब्रह्मचारी समाधिस्थ हो जाने के लिए शिलाखण्ड पर पद्मासन में बैठ गए। नेत्र मूँद लेने से पूर्व उनकी दृष्टि जल में किल्लोल करती हुई मछलियों की ओर गई—ये मछलियाँ?

नर्मदा तट की उत्तुंग शिलाओं में एक आकाशवेधी तीव्र चीत्कार गूँज उठी। ब्रह्मचारी

की दृष्टि उस ओर उठ गई। नदी पार धूप में चमकती सबसे ऊँची संगमरमर की शुभ्र चट्टान पर चिपककर ऊपर उड़ते हुए सजातीय पक्षी की ओर कातर भाव से चोंच उठाकर एक चील चीख रही थी। चील के ऊपर पर फड़फड़ाता हुआ पक्षी भी व्याकुलता-भरी उड़ानें ले-लेकर हृदय से उठे आवेग से आकाश को गुंजा रहा था। एक प्रबल आकर्षण दोनों को व्याकुल कर रहा था। ब्रह्मचारी नीड़क की रोमराशि सिहर उठी। उन्होंने एकाग्र होकर सोचा—तन अथवा मन की कौन वृत्ति इन पक्षियों को विक्षिप्त कर रही है? उन्होंने सोचा, मनोवेग को वश में करने के लिए इन पक्षियों को ध्यानमग्न हो जाना चाहिए। इस पर भी विचार उठा—क्यों? ...सुख की प्राप्ति के लिए!...यह चील और ये मछलियाँ समाधिस्थ क्यों नहीं होते? ...इन्हें जन्म-मरण के बन्धन से और दु:ख से भय क्यों नहीं लगता? इसके शरीर में स्थित आत्मा को मुक्ति की इच्छा क्यों नहीं होती?...क्या वे ब्रह्म का अंग नहीं हैं?

ब्रह्मचारी की शंका का उत्तर था—ये जीव भ्रम और अज्ञान के कारण दु:ख को दु:ख नहीं समझ पाते। परन्तु इस उत्तर ने उनके विचारों में खलबली मचा दी। प्रश्न उठा—दु:ख को दु:ख न समझना भ्रम और अज्ञान है या दु:ख से सदा भयभीत होकर उससे बचते रहने की चिन्ता में दु:खी रहना अज्ञान है? और भी प्रश्न उठा—इन जीवों के अज्ञान और भ्रम का कारण क्या है? क्या ये वासना के दास हैं? यदि वे वासना के दास हैं तो उनकी यह वासना, उनके शरीर और ब्रह्म के अंश उनके आत्मा का ही गुण और स्वभाव है! इन जीवों का शरीर और अस्तित्व क्या उनकी अपनी इच्छा या वासना पर निर्भर है? नहीं, वह तो ब्रह्म की ही लीला है। ब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध वे कैसे जा सकते हैं। मनुष्य भी क्या ज्ञानमय ब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध जा सकता है? क्या मनुष्य की प्रवृत्ति, उसकी इच्छा और वासना भी प्रकृति और ब्रह्म का विधान नहीं है? क्या मनुष्य की तपस्या, ज्ञान-उपार्जन का प्रयत्न और वासना को दमन करने की चेष्टा ब्रह्मशक्ति के विधान और कार्यक्रम के विरुद्ध नहीं है?

ब्रह्मचारी नीड़क समाधिस्थ न हो सके। वे सोचते चले गए—भय और पीड़ा इन पशु-पक्षियों के जीवन में भी आती है परन्तु वे दुख और पीड़ा की आशंका और चिन्ता को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर मुक्ति की चिन्ता नहीं करते रहते। वे सुख को सुख और दु:ख को दु:ख मानकर जो कुछ जीवन में सम्मुख आता है, उसे ग्रहण कर जीवन की यात्रा पूर्ण कर देते हैं। यही वास्तविक अनासक्ति है। जीवन की यात्रा समाप्त हो जाने पर इन जीवों और मनुष्य की आत्मा में क्या कुछ अन्तर रह जाएगा?

सम्मुख शिलाखण्ड पर परों की फड़फड़ाहट और चीत्कार सुनकर ब्रह्मचारी की दृष्टि फिर उस ओर गई। चील का जोड़ा जीवन और जन्म के क्रम को निरन्तर रखने के प्रयत्न में लगा हुआ था। ब्रह्मचारी का शरीर एक अद्भुत रोमांच की सिहरन और उद्वेग से बल खाकर रह गया, जैसे वेग से दौड़कर लक्ष्य को पकड़ते समय लक्ष्य अदृश्य हो जाए।

ब्रह्मचारी को स्मरण हुआ कि वे समाधिस्थ होने जा रहे थे परन्तु अब समाधि के लिए दृढ़ता और उत्साह शेष न रहा था। मन में तर्क और शंका ने स्थान ले लिया था। समाधि के प्रति विरक्ति के भाव ने कहा—सहज सुख से उपराम होकर तप, त्याग और समाधि द्वारा भी सुख की ही तो खोज की जाती है। यह क्या प्रवंचना है? वितृष्णा की एक मुस्कान से ब्रह्मचारी के होंठों पर खड़े श्मश्रु तनिक थिरककर रह गए। उनकी ग्रीवा पराजय के-से भाव में एक ओर झुक गई। एक साँस खींचकर उन्होंने कहा—"जीवित रहकर जीवन के क्रम का विरोध..."

ब्रह्मचारी नीड़क को विचारों की भूल-भुलैया में भूल जाने के कारण क्षुधा और समय

का कुछ ध्यान न रहा। सूर्य आकाश के मध्य से पश्चिम की ओर ढलता चला जा रहा था। ब्रह्मचारी नीड़क के मस्तिष्क के अतिरिक्त विशाल प्रकृति का शेष व्यापार गति प्रवाह में स्वाभाविक रूप से बहता चला जा रहा था।

ब्रह्मचारी नीड़क ने नदी के जल में विलोड़न का शब्द सुना। दृष्टि बाईं ओर नदी तट की ओर चली गई। तट के समीप एक स्थान से जल की लहरें वृत्ताकार फैलती हुई कुछ दूर जाकर जल में विलीन हो रही थीं। वहाँ समीप ही तट पर मृगचर्म और कमण्डलु भी रखा हुआ था। कौन? यह प्रश्न नीड़क के मस्तिष्क में उठने से पहले ही फैलती हुई लहरों के वृत्त के केन्द्र से, फैले हुए भीगे केशों से ढका, सिर जल के ऊपर उठा। दो हाथों ने उन फैले हुए केशों के बीच से मुख को बाहर किया। जल की वृत्ताकार लहरें नये सिरे से एक बार और फैलने लगीं। नीड़क ने देखा, वह आकृति ब्रह्मचारिणी सिद्धि की थी। ब्रह्मचारिणी के श्मश्रुहीन मुख की कोमलता से ब्रह्मचारी के शरीर में बिजली-सी कौंध गई। कन्धों तक जल में खड़ी ब्रह्मचारिणी डुबकी लेकर अपने शरीर का प्रक्षालन कर रही थी। उसके अंगों के हिलने से नर्मदा का जल क्षुब्ध हो रहा था और उस दृश्य से उसी मात्रा में नीड़क के शरीर का रक्त भी।

ब्रह्मचारी नीड़क उस ओर से दृष्टि न हटा सके। स्नान करके ब्रह्मचारिणी सिद्धि तट की ओर चली। तट की ओर उठते हुए प्रत्येक पद से उसका शरीर क्रमशः जल से बाहर होता चला जा रहा था। नीड़क की दृष्टि निरन्तर उसी ओर थी। विचारों के क्षोभ से उनके श्वास की गति तीव्र हो गई थी। वे हृदय से उठकर कण्ठ में आ गए उद्वेग को निगल जाने का प्रयत्न कर रहे थे।

अपने यौवन-धन को शत्रु पुरुष की दृष्टि से सुरक्षित उस स्थान में ब्रह्मचारिणी जल के आवरण से निकलकर अपने शरीर को दूसरे आवरणों से सुरक्षित करने लगी। उसने कटि पर मृगचर्म को मूँज की मेखला में बाँधा और उन्नतवर्तुल उरोजों को कदली वल्कल के वर्तुल में छिपाकर मूँज की रस्सी से पीठ के पीछे बाँध लिया, मानो तप-साधना के शत्रुओं को विघ्न डालने से दूर रखने के लिए बन्दी बना दिया हो।

ब्रह्मचारिणी सिद्धि ने स्नान के पश्चात् नदी से कमण्डलु भरकर पश्चिम क्षितिज पर अनेक रंग के मेघों से घिरे सूर्यदेव का तर्पण किया और आश्रम की ओर चलने लगी।

सिद्धि ने सहसा पुकार सुनी—"ब्रह्मचारिणी!"

चौंककर सिद्धि ने अपने बाईं ओर देखा। लम्बे पग रखते हुए ब्रह्मचारी नीड़क उसी ओर आ रहे थे। ब्रह्मचारिणी ने नतशिर होकर उन्हें प्रणाम किया। यह विचार कर उसका सिर भन्ना उठा कि इस स्थान को उसने पुरुष की दृष्टि से निरापद समझा था।

ब्रह्मचारिणी सिर झुकाए तपोधन नीड़क की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी। नीड़क की तीव्र दृष्टि ब्रह्मचारिणी की संकुचित, मौन, संयत मुद्रा की ओर थी। उनके मुख से शब्द नहीं निकल पा रहे थे। उन्होंने तरल स्वर में पूछ लिया—"ब्रह्मचारिणी, जीवन का उद्देश्य क्या है?"

सिद्धि ने उत्तर दिया—"जीवन के बन्धन से मुक्ति।"

नीड़क ने सिद्धि के मुख पर दृष्टि केन्द्रित कर पूछा—"जीवन का प्रयोजन क्या स्वयं अपना नाश करना ही है? ब्रह्मचारिणी, जीवन है क्या?"

सिद्धि ने दृष्टि झुकाए उत्तर दिया—"आत्मदर्शी ऋषियों के वचन के अनुसार जीवन दुःख का बन्धन है?"

सिद्धि के नत नेत्रों की ओर देख ब्रह्मचारी नीड़क ने फिर प्रश्न किया—"जीवन दुःख

का बन्धन है और जीवन का उद्देश्य इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है? ब्रह्मचारिणी, जो कहा जाता है और जो सुना जाता है उसे एक ओर छोड़कर तुम अनुभूति की बात कहो! जीवन देनेवाली सृष्टि की संचालक ब्रह्मशक्ति जीवन को समाप्त करके उससे मुक्ति पाने के लिए ही जीवन की सृष्टि करती है, यह बात तर्कसंगत और बुद्धिसंगत नहीं है।"

सिद्धि ने कुछ क्षण विचारकर उत्तर दिया—"महर्षि के प्रवचन में यह प्रसंग कभी नहीं आया। ज्ञाननिधि, इस प्रश्न का समाधान करें।"

नीड़क ने फिर प्रश्न किया—"जीवन का सबसे भयंकर दुःख कौन है ब्रह्मचारिणी?"

ब्रह्मचारिणी ने संक्षिप्त उत्तर दिया—"मृत्यु!"

हल्की मुस्कराहट से नीड़क के श्मश्रु थिरक उठे। सिद्धि की दृष्टि नर्मदा के पुलिन पर थी। नीड़क बोले—"मृत्यु! ब्रह्मचारिणी, जीवन के क्रम में मृत्यु अनिवार्य है। उसका भय भ्रम है। वह व्यर्थ आतंक है। मृत्यु जीवन को समाप्त नहीं कर देती। वह जीवन की श्रृंखला में जीवन की एक कड़ी की सीमा है। जीवन की एक कड़ी के बाद दूसरी, फिर तीसरी क्रमशः चलती हैं। जीवन के क्रम का चलना ही सृष्टि का प्रधान कार्य है। शंका उत्पन्न करके उनका समाधान करना, दुख की कल्पना कर उससे निर्वाण का उपाय ढूँढ़ना, क्या यही जीवन का उद्देश्य है? ब्रह्मचारिणी, जीवन की इच्छा, प्रवृत्ति और गति ने क्या कभी तुम्हें स्वाभाविक मार्ग की ओर नहीं पुकारा?"

सिद्धि ने कुछ क्षण मौन रहकर उत्तर दिया—"ज्ञाननिधि, मेरा तप अपूर्ण है। मेरी आत्मा ने अभी ज्ञान पाया है।"

"ब्रह्मचारिणी, आँख मूँदकर जिस ज्ञान की खोज की जाती है, उसके विषय में प्रश्न नहीं कर रहा हूँ" नीड़क ने कहा—"प्रत्यक्ष अनुभव में जो जीवन और ज्ञान आता है, उसी की बात पूछ रहा हूँ।"

सिद्धि ने प्रश्न का भाव ठीक न समझकर नेत्र झुकाए निवेदन किया—"ऋषिवर का तत्त्व मैं ग्रहण नहीं कर पाई। तपोधन, उपदेश कीजिए, जीवन क्या है?"

नीड़क ने दीर्घ निःश्वास से उत्तर दिया—"नर्मदा का प्रवाह ही उसका जीवन है। यदि प्रवाह की गति का अवरोध करके उद्गम की ओर प्रवाहित करने की चेष्टा की जाए तो क्या होगा?...यदि यह नदी प्रवाह को दुख समझकर गति-निरोध द्वारा प्रवाह से मुक्ति प्राप्त करना चाहे तो क्या होगा?"

सिद्धि ने अंजलिबद्ध करों से विनय की—"ऐसा अगम ज्ञान केवल तपोधन भविष्य-द्रष्टा ऋषि लोगों को ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञानधन, अभी मेरी आत्मा ज्ञानहीन और निर्बल है।"

नीड़क बोला—"ब्रह्मचारिणी, जीवन की इच्छा को ही तुम निर्बलता समझती हो। उसे वासना का नाम देकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जीवन का हनन करने का यत्न करती हो। तुम दुःख को सुख और सुख को दुःख मानने का यत्न कर यह भूल जाना चाहती हो कि जीवन क्या है?"

नीड़क के शरीर में रक्त के वेग की उत्तेजना का ज्ञान संपर्क के अभाव में सिद्धि के लिए सम्भव न था परन्तु प्रातः प्रवचन के समय ब्रह्मचारी के स्थिर, गम्भीर स्वर और इस समय के स्वर के तरल कम्पन में ब्रह्मचारिणी अन्तर अनुभव कर रही थी। एकान्त में मिलने के संकोच से एक मधुर मूढ़ता ब्रह्मचारिणी के मस्तिष्क में प्रवेश करती जा रही थी। उसने बद्ध-अंजलि होकर विनय की—"ज्ञानधन, ज्ञानदान दीजिए!"

"ज्ञान?" नीड़क ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर नदी पार संगमरमर के उत्तुंग शुभ्र

विशाल खण्डों की ओर दृष्टि उठाई। चील की जोड़ी अभी तक अपने जीवन की शक्ति को शरीर में सीमित न रख सकने के कारण उसके लिए नवीन शरीरों की रचना में व्यस्त थी। चरम सीमा पर पहुँचा हुआ उनके जीवन का उच्छ्वास तीव्र चीत्कारों के रूप में नर्मदा तट की उत्तुंग शिलाओं से टकराकर जल पर गूँज रहा था। नीड़क ने उस ओर संकेत कर कहा—"उस ओर देखो, ब्रह्मचारिणी!"

ब्रह्मचारिणी सिद्धि ने दृष्टि उठाकर देखा। विषयान्ध शरीरों का ऐसा व्यापार उसने पहले भी देखा था। ऐसे अवसर पर उस ओर से दृष्टि हटाकर प्राणायाम द्वारा मन और इन्द्रियों का निरोध कर मन को विकार के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न उसने किया था परन्तु पूर्ण युवा ब्रह्मचारी की उपस्थिति में, उनके संकेत से उस दृश्य को देखकर ब्रह्मचारिणी का शरीर कंटकित हो उठा। उसके नेत्र झुक गए। उसका मुख आरक्त हो गया।

ब्रह्मचारी नीड़क के श्वास का वेग अधिक तीव्र हो गया। उनके स्नायु वीणा के तने हुए तारों की भांति झनझनाने लगे। ब्रह्मचारिणी का शरीर उन्हें तीव्र वेग से आकर्षित कर रहा था। नेत्र झुकाए ब्रह्मचारिणी का मुख आरक्त हो जाना ब्रह्मचारी को असह्य हो रहा था। उन्होंने एक पग समीप होकर कम्पित स्वर में पूछा—"ब्रह्मचारिणी, वह पाप और अनाचार है तो क्या जीवन भी पाप और अनाचार नहीं?"

ब्रह्मचारिणी ने नेत्र मूँदकर कम्पित स्वर में उत्तर दिया—"तपोधन, ऋषियों के वचन के अनुसार यह अज्ञान के कारण, वासना के पंक में फँसकर मुक्ति के मार्ग से च्युत होना है। आत्मा को दु:ख के बन्धन में फँसा देना है। जीवन भ्रम और माया है।"

"ब्रह्मचारिणी, यह दुख का बन्धन है?" ब्रह्मचारिणी की ओर एक और पग बढ़ाकर नीड़क ने प्रश्न किया—"तुम्हारा विश्वास है, चील की यह जोड़ी इस समय जन्म-मृत्यु के माया-बन्धन को सम्मुख देखकर भय से कातर होकर चिल्ला रही है, या वे जीवन के उच्छ्वास की पूर्ति के आवेग में आत्मविस्मृत हो रहे हैं?

"क्या यह जीवन माया और भ्रम है, ब्रह्मचारिणी?" ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचारिणी को मौन देखकर फिर पूछा—"जिस सत्य की अनुभूति हम रोम-रोम से कर रहे हैं, संसार के व्यापक ब्रह्म की वह शक्ति माया और भ्रम है? इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले सुख की उपेक्षा कर, अतृप्ति के कारण उत्पन्न दु:ख को सुख समझने की चेष्टा करना सत्य है? ब्रह्मचारिणी, क्या तुम सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य मानने का यत्न नहीं कर रही हो?"

सिद्धि मौन रही।

नीड़क ने अपनी तर्जनी से संकेत कर पूछा—'ब्रह्मचारिणी, क्या तुम हृदय में कामना के रूप में जीवन की शक्ति को अनुभव नहीं कर रही हो? क्या तुम हृदय में द्वन्द्व अनुभव नहीं कर रही हो?"

ब्रह्मचारिणी ने अपने झुके हुए, त्रस्त, अधमुँदे नेत्रों को क्षण-भर के लिए ऊपर उठाकर उत्तर दिया—"अन्तर-द्रष्टा ज्ञानी, आपका वचन सत्य है। मैं निर्बल आत्मा हूँ। इन्द्रियों का निग्रह मैं अभी तक नहीं कर पाई हूँ।"

ब्रह्मचारी ने अपना हाथ सिद्धि के कन्धे पर रख दिया। उन्होंने अनुभव किया, ब्रह्मचारिणी का शरीर काँप रहा था। अपनी बाँह से उसकी पीठ को सहारा देकर दूसरे हाथ से उसका चिबुक ऊपर उठाकर ब्रह्मचारी ने कहा—"सुन्दरी, यह द्वन्द्व जीवन की माँग और ब्रह्म की शक्ति है।"

ब्रह्मचारिणी के पैर इस प्रकार लड़खड़ा गए मानो वह गिर पड़ेगी। ब्रह्मचारी ने कुछ

हतप्रतिभ होकर प्रश्न किया—"सुन्दरी, मेरे कठोर शरीर के स्पर्श से तुम्हें असुख का अनुभव होता है?"

नीड़क के शरीर का आश्रय लेकर सिद्धि ने काँपते हुए स्वर में उत्तर देने का यत्न किया—"नहीं...एक अपरिचित अनुभूति है, कुछ असह्य-सी, कुछ अप्राप्य-सी, अत्यन्त प्रिय है। आह...!"

सिद्धि का कंठ रुंध गया। उसका जटावेष्टित सिर ब्रह्मचारी के लोमपूर्ण वक्षस्थल पर टिक गया। नर्मदा के पुलिन से भरे सिद्धि के जटाजूट पर नीड़क के ओष्ठ आ टिके।

सिद्धि सहसा चौंककर अपने पैरों पर खड़ी हो गई—"ज्ञानधन, अज्ञान का अन्धकार मुझे घेरे ले रहा है। मुझे ज्ञान दीजिए!"

ब्रह्मचारी ने कुछ हतोत्साहित होकर उत्तर दिया—"ज्ञान! ...ज्ञान चेतना का विकास है।...चेतना का द्वार इन्द्रियां हैं...प्रकृति स्वयं उन्हें मार्ग दिखाती है। ब्रह्मचारिणी, प्रकृति का हनन और दमन अज्ञान है।"

ब्रह्मचारिणी ने निर्बलता अनुभव कर आश्रय के लिए अपने दोनों बाहु, शरीर के बोझ सहित ब्रह्मचारिणी के कंधे पर रख दिए।

ब्रह्मचारी नीड़क और ब्रह्मचारिणी कम्पित चरणों से नर्मदा के पुलिन पर दोहरे चरण-चिह्न अंकित करते हुए नीरव नदी-तट की निर्जन शिलाओं की ओर चले जा रहे थे। नवोदित तारे अपनी शीतल किरणों की उंगलियों से श्रावण के घने मेघों कपट खोलकर, पृथ्वी पर होनेवाले सृष्टिक्रम के व्यापार को देखकर सन्तोष प्रकट कर रहे थे। ब्रह्म की शक्ति सृष्टि के क्रम की रक्षा के लिए प्राकृतिक शक्तियों का आयोजन कर रही थी।

ब्राह्म मुहूर्त से पूर्व ही श्रावण के घने मेघ अविराम बरस रहे थे, परन्तु यम-नियम का पालन करनेवाले ऋषि लोग प्रातः कर्म से निवृत्त होकर आश्रम के विशाल बरगद के नीचे ज्ञान-चर्चा के लिए एकत्र हो गए थे। यज्ञ का पवित्र धूम्र, दिशा बदलती हुई वायु के प्रहारों से महावृक्ष को चारों ओर से घेरकर स्थिर-सा हो रहा था। पिछले दिन मध्याह्न से ब्रह्मचारी नीड़क की अनुपस्थिति और सन्ध्या समय नदी स्नान करने जाकर ब्रह्मचारिणी सिद्धि के न लौटने की चिन्ता सभी आश्रम-निवासियों को विक्षिप्त किए थी। प्रसंग में महर्षि दीर्घलोम ने कहा—"...वासना मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु है। वासना की अग्नि में मनुष्य का ज्ञान सूखी समिधाओं की भाँति भस्म हो जाता है।"

सूर्योदय के समय नर्मदा-तट की एक गुफा में नीड़क ने निद्रा समाप्त होने की अंगड़ाई ली। उनका शरीर हिलने से सिद्धि सचेत हो गई। नीड़क के पलक खुलने से पूर्व ही उसने उपेक्षित मृगचर्म को शरीर पर खींचते हुए गुफाद्वार से बाहर दृष्टि डालकर कहा—"ब्रह्ममुहूर्त व्यतीत हुए विलम्ब हो गया जान पड़ता है!"

"हाँ," नीड़क ने उत्तर दिया—"समाधि का समय बीत गया है।" और सिद्धि की ग्रीवा को अपनी बाँह में लेकर, अधमुँदे नेत्रों में नेत्र गड़ाकर नीड़क ने मुस्कान से पूछा—"सच कहो, अनेक वर्ष समाधि द्वारा परम सुख में तत्लीन होने और आत्म-विस्मृति में संसार को भूल जाने की चेष्टा करके भी क्या कभी तुम तृप्ति में इतनी आत्म-विस्मृत हो सकी थीं जितनी इस सम्पूर्ण रात्रि में?"

सिद्धि ने तृप्ति में पुनः आत्म-विस्मृत हो नीड़क की ग्रीवा को आलिंगन में लेकर उन्मीलित नेत्रों से उत्तर दिया—"आर्य सत्य कहते हैं।"

अभिशप्त

अमीनुद्दौला पार्क में प्रायः ही प्रदर्शनी, मेला या जलसा कुछ-न-कुछ हुआ ही करता है। मेले-ठेले के धक्के से परेशान हुए बिना तमाशे की सैर करनी हो तो किनारे किसी दुमंजिले मकान के बरामदे से हो सकती है। इस विचार से इन जाड़ों में सन्ध्या-भोजन के बाद, मुँह में पान या शुक्लाजी के बच्चों के लिए जेब में लैमनड्राप ले, छड़ी घुमाता हुआ मैं प्रायः शुक्लाजी के बरामदे में जा बैठता।

शुक्लाजी स्वयं जैसे बैठकबाज़ और हँसोड़ हैं, उनकी श्रीमतीजी भी वैसी ही मिलनसार हैं। दिन-भर कारोबार की चख-चख के बाद सन्ध्या समय घण्टे-दो घण्टे सभ्य और सुसंस्कृत लोगों के साथ बैठ बातचीत कर लेने से एक सन्तोष-सा हो जाता है।

शुक्लाजी के दोनों बच्चे लल्लू और सविता मेरे कदमों की आहट जीने से भांप जाते हैं। उन्होंने आंगन में ही घेर लिया। जेब खाली करते हुए पुकारा—"शुक्लाजी!"

आंगन के सामने वाले कमरे के परली ओर बरामदे से झाँक मिसेज़ शुक्ला ने उत्तर दिया—"आइए न!"...कैसे पुकार रहे हैं जैसे बिलकुल अपरिचित हों!"

बिजली की हज़ारों बत्तियों के प्रकाश में नीचे पार्क में प्रदर्शनी का मेला भरा था। भीड़ अधिक थी। प्रसंग छेड़ने के अभिप्राय से मुस्कराकर मैंने पूछा—"इतनी भीड़; क्या आज फिर जालौन और फतेहपुर में आतिशबाज़ी का मुकाबला है!"

बात रखने के लिए मुस्कराहट में सहयोग दे मिसेज़ शुक्ला ने कहा—"कुछ होगा ही, लोगों की जेब के पैसे खींचने के लिए कुछ-न-कुछ बहाना चाहिए।"

अपने अभ्यास के विरुद्ध ऊँचे स्वर में हँसकर शुक्लाजी ने कुछ न कहा। वह किरमिच की आरामकुर्सी पर पांव फैलाए बैठे थे, बैठे रहे। दायें हाथ की उंगलियों में ठोड़ी को टिकाए, पीठ पीछे की पटिया पर सिर धरे वह गम्भीर मुद्रा से जगमगाते प्रकाश में बावली हो रही भीड़ की ओर देखते रहे। दृष्टि दूसरी ओर रहने पर भी मेरे कुर्सी पर बैठ जाने की प्रतीक्षा में थे।

"क्या ज़माना आ गया..." चप्पल में रखे अपने पांव हिलाते हुए वह बोले। शुक्लाजी की इस भूमिका में सहयोग देने के लिए श्रीमती जी के चेहरे पर से मेरे स्वागत के लिए क्षण-भर को आई मुस्कराहट विलीन हो गई—"अरे जाने क्या होनेवाला है दुनिया में..." एक गहरी सांस खींच उन्होंने गर्दन घुमा ली।

इस प्रस्ताव से पर्याप्त गम्भीरता और उत्सुकता का वातावरण तैयार हो जाने पर धीमे-धीमे शुक्लाजी ने आरम्भ किया—"भाई, इस ज़माने में जो न हो जाए वही थोड़ा है। हाँ...यह जो गूंगे नवाब का अहाता है; जहाँ बम-पुलिस बनी है वहीं उसके साथ सटी हुई-सी कोठरियाँ हैं। वहाँ पिछली रात खून हो गया खून! खून किया किसने?... पांच साल के

बच्चे ने।" वे कुर्सी पर से लेटे उठ बैठे। अत्यन्त विस्मयजनक समाचार सुनाने के प्रयत्न में उनकी आँखें स्वयं विस्मय से फैल गईं, "...क्या विश्वास कर सकोगे।"

"पांच बरस के बच्चे ने खून तो क्या किया होगा..." मैंने विस्मय में सहयोग दिया —"कोई दुर्घटना बेचारे से हो गई होगी। लड़के छत पर खेल रहे होंगे या पतंगबाज़ी... धक्का दे दिया हो?"

समर्थन की आशा से मैंने श्रीमती शुक्ला की ओर देखा। उनके मुख पर विषाद की छाया गहरी हो गई थी। कुर्सी की पीठ पर रखे अपने हाथ पर गाल टिका उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास लिया।

उत्तेजना से शुक्लाजी कुछ आगे झुक आए—"क्या कह रहे हो?" दोनों हाथ के पंजों को बाँध, संकेत से वे बोले—"खून! गला घोंटकर खून! पांच बरस के बच्चे ने!"

आश्चर्य से फैली मेरी आँखों ने पूछा—"कैसे?"

"दीवार की ओर जो सबसे पीछे कोठरी है, वहीं एक झल्लीवाला रहता है, ज्वाला। जात का अहीर। उसके एक पांच बरस का लड़का और तीन बरस की लड़की थी। झल्ली ढोनेवाला क्या कमा लेगा? कभी चार-छः कभी दो ही आने। अरे अमीनाबाद, फतेगंज से बोझ उठवाकर आप आधा मील या मील-भर ले जाइएगा तो दो-चार, हद छः पैसे दे दीजिएगा! उसकी अहीरन फतेगंज में दाल दलने जाती है तो दो-तीन आने, अधिक-से-अधिक सेर अनाज ले आती है। किसी तरह दोनों बच्चों को पाल रहे थे। समय जैसा है, जानते ही हो। रुपये का बारह-चौदह सेर मिलता था तो अब अढ़ाई-तीन सेर मिलता है, वह भी अन्न नहीं, कुअन्न। किसी तरह रूखे-सूखे बच्चों का पेट भर रहे थे। इस पिछले शनीचर अहीरन के एक बच्चा और हो गया।

"अहीर झल्ली ढोकर जो कुछ ले आता, उसी से गुज़ारा चल रहा था। गुज़ारा क्या, चूनी-भूसी जो कुछ मिला, एक जून आधा पेट खाकर पड़े रहे। न हुआ बच्चों को खिला दिया, खुद जैसे-तैसे रात काट दी, पर छाती के बच्चे का पेट कैसे भरें? मां के दूध तो तब उतरे जब उसके पेट में कुछ जाए! मां दिन-दिन स्वयं सूखती जा रही थी। कहीं पानी के लोटों से दूध बनता है? गैया को भी तो घास-भूसी कुछ चाहिए ही।"

गौ माता और नारी माता की इस तुलनात्मक चर्चा से मेरी दृष्टि श्रीमती जी की ओर उठ गई। वह कुर्सी पर करवट से बैठी थीं। इस भोंडी बात से वह और भी घूम गईं। उनकी उपेक्षा कर शुक्लाजी कहते चले गए—

"आज क्या हुआ? बाप तड़के ही झल्ली ले सब्जीमण्डी चला गया। चुटकी भर आटा जो कुछ था मां ने लोटे में घोल दिया। दो-दो चुल्लू लड़के-लड़की को पिला दिया। बच्चे अभी और माँग रहे थे। उन्हें डांट मां ने थोड़ा-सा घोल बचा लिया। छाती में दूध था नहीं। कपड़े की बत्ती में मां वही घोल नन्हें बच्चे को भी पिलाने लगी।

"मां की तबीयत ठीक नहीं थी। उठकर बम-पुलिस तक गई। लौटकर आई तो बेचारी की चीख निकल गई। लड़का नन्हें बच्चे का गला घोंट बैठा था। बच्चे के प्राण निकल चुके थे। मां सिर नोच चीखने लगी।

"लोग इकट्ठे हो गए। बच्चों को धमकाकर और पुचकारकर पूछा। लड़की ने सहमकर बताया—'भैया ने नन्हें को मार दिया।'

"लड़के को पुचकारा, मिठाई का लालच दिया। कहता है; सुनिए, कहता है—'अम्मा घोल हमें नहीं देती। नन्हें को पिया देती है। बड़ी भूख लगी थी।' सुना आपने...? कैसा समय आ गया है।"

वितृष्णा के स्वर में मिसेज़ शुक्ला ने कहा—"देखिए न, इन लोगों के बच्चे इतनी ही उम्र में भी कैसे पक्के होते हैं। पांच वर्ष का बच्चा भी समझता है, उसका हिस्सा बांटने वाला उसका दुश्मन है। यह हमारी सविता इस सावन में पांच की हो गई, छठा लग रहा है। खाने को दो, थाली में कुत्ता मुँह डाल दे तो उलटा उसे प्यार करने लगती है।"

शुक्लाजी मेरी दृष्टि मिसेज़ शुक्ला की ओर से अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ऊँचे स्वर में बोलने लगे—"अब कहिए, जिस देश में इतना पाप बस गया हो, वहाँ अकाल, महामारी, भूकम्प जो न हो जाए वही भगवान की दया समझो। ऐसे ही कर्मों की बदौलत तो देश दाने-दाने को तरसने लगा है...ओफ, दूध पीते बच्चों तक के दिल में बैर और हिंसा! इसी का दंड तो हम लोग भोग रहे हैं।"

अपनी कुर्सी पर कुछ और आगे बढ़ उन्होंने पूछा—"सोचिए, ऐसे बच्चों का आगे जाकर क्या बनेगा?"

"भूख..." मैं कहना चाहता था। मेरी बात काटकर शुक्लाजी और ऊँचे स्वर से बोले—"अजी भूख नहीं तो ऐसे कर्मों का फल और क्या होगा? ऐसे पापों का फल तो सर्वनाश होकर भी पूरा नहीं हो सकता।"

मन की अवस्था बहस करने लायक नहीं रही। पाप के कारण और फल के सम्बन्ध में सोचता रह गया—'जन्म से पाप करने के लिए मज़बूर वे अभिशप्त क्या कभी पापमुक्त हो सकेंगे...'

तर्क का तूफान

"देखो दोस्त, शाम को आना ज़रूर!...ऐसा न हो कि टाल जाओ! तुम्हारी भाभी बुरा मान जाएगी और मैं नाराज़ हो जाऊँगा।" कुर्सी से उठते हुए सिन्हा ने अवध का हाथ अपने हाथों में दबाकर अत्यन्त आग्रह से फिर अनुरोध किया, "आओगे न?...वचन दो!"

"हाँ-हाँ आ जाऊँगा।" आग्रह की तीव्रता से झेंपते हुए अवध ने उत्तर दिया। मन उसका चाह रहा था, किसी तरह वह सन्ध्या के निमन्त्रण से बच पाता। सिन्हा और उनसे भी अधिक मिसेज़ सिन्हा को बैठकबाज़ी का शौक है। अवध के अनेक परिचित निमन्त्रण में आएंगे। गाना-बजाना, बहस, मज़ाक और सब तरह की हू-हबक रहेगी। साधारणतः ऐसी बैठकों में अवध को भी रुचि थी। इन महफिलों में वह चमकता भी खूब था। चुभता मज़ाक करने और बात से बात निकालने की उसकी आदत जो थी।

इधर कुछ समय से अवध का मन महफिलों से उचट गया था। वह उनसे भागने लगा था। दूसरे लोग कहकहे लगा रहे हों, आपसे भी आशा की जाती है कि उसमें सहयोग दें। यदि मन के बोझ के कारण आप दांतों तले अंगूठा दबाए, छत की धन्नियों की ओर देखते रहना चाहते हैं तो महफिल में आपका क्या काम? इससे कहीं अच्छा है कि आप सन्ध्या के झुटपुटे में, सूने पार्क की बेंच पर बैठ, घने वृक्ष की शाखाओं में से तारों को देख-देख, मन में उठती दुख की भाप लम्बी सांसों से आकाश की ओर छोड़ते रहिए।

इसी कारण यानी महफिल में ठीक से सट न पाने की वजह से अवध महफिलों से कतराने लगा था। एक समय किए मज़ाक का वह खुद शिकार बन गया। किसी मित्र के सिगरेट न पीने पर चुटकी ले उसने कहा था—"यह तम्बाकू का नहीं, गम का धुआं पीते हैं।"

आश्चर्य से पूछा गया—"कैसे?" तो आपने उत्तर दिया—"गम के सिगरेट में मन को सुलगा, दुःख के कश खींचते हैं और आहों का धुआं छोड़ते हैं।" गम से उठनेवाली घटनाओं के मुकाबले बेचारी सिगरेट से उठी धुएं की मामूली रेखा की क्या औकात? गम के वैसे सिगरेट अब अवध स्वयं पीने लगा था।

अवध को अब महफिल की रौनक के बजाय अच्छा लगता—अपने काम से लौट सूर्यास्त के बाद चुपचाप नीले आकाश या उमड़ते मेघों की ओर देख-देख सोचते रहना—'हृदय का दुःख गहरा होते-होते एक दिन हृदय में छिद्र कर देगा, तब ज़मीन की छोटी-सी नाव अनुभव के इस भंवर में डूब जाएगी। तब न दुःख रहेगा न सुख...न कोई चाह और न चाह से उठनेवाली आह!'

अवध के मित्र मन बहलाव के लिए उसे जब अपनी ओर खींचते, अवध का दुःखी मन कराह उठता—'क्या लुत्फ अंजुमन का जब दिल ही बुझ गया हो!' अवध की ऐसी मानसिक अवस्था में भी सिन्हा ने अपनी स्त्री की कसमें देकर उसे अपने यहाँ चाय की

गोष्ठी में आने के लिए विवश कर दिया था।

उस महफिल की बहस और मज़ाक से अवध को कोई दिलचस्पी न थी परन्तु जब एक गीत सुनाने का प्रस्ताव लता से किया गया तो अवध चिन्ता की ऊँघ से जाग उठा।

लता गाती अच्छा थी। उसकी आवाज़ में लोच थी। आवाज़ को ऊँचा उठाने के लिए कलेजे में दम था। वह हँसमुख और निःसंकोच थी। कुछ-कुछ मुँहफट, परन्तु वह खटकता नहीं था क्योंकि उसके व्यवहार में चोट करने का भाव नहीं, घायल की निराशा थी जो करुणा चाहती थी। गीत और गज़लें, जो लता को याद थीं, निराशा, करुणा और विरह का क्रन्दन लिये हुए थीं। गीत के भाव के अनुरूप उसके स्वर में भी दर्द की एक झंकार आती थी, इसलिए उसका गाना हृदय में गहरा उतर जाता था, केवल कानों तक ही नहीं रहता था।

गाने का प्रस्ताव किए जाने पर लता ने निःसंकोच पूछ लिया—"क्या सुनिएगा?" और फिर छत के कोने में दृष्टि स्थिर कर, कुर्सी की बाजू पर अंगुलियों से ताल देकर गुनगुनाने लगी और गा उठी—'जिसे याद करते हैं हम ज़फ़र, हमें दिल से उसने भुला दिया...'

गाने का भाव और स्वर की लहर अवध के मन की भावना में समा गई। हृदय लय पर डोलने लगा। उसे जान पड़ा, लता के कोमल कण्ठ और दर्द-भरे स्वर में स्वयं उसके मन की व्यथा प्रकट हो रही थी। एक सांस बहुत गहराई से उठ सीने में रह गई। तन्मय हो लता के मुख की ओर देखता रहा, जैसे मुख से निकलते हुए राग के भावों को प्रत्यक्ष देख पा रहा हो। उसकी दृष्टि के सम्मुख मौजूद था, दुख से विंधा स्वयं अपना हृदय। श्वास रोके वह तन्मय सुन रहा था और लता गा रही थी—

'तेरी चश्मे मस्त ने साकिया, मुझे क्या से क्या बना दिया।
मुझे कुछ रही न अपनी खबर, कोई जाम ऐसा पिला दिया।'

अवध का हृदय सहसा तड़पा। दूसरे क्षण उस तड़प की थकान से निढाल हो वह निश्चेष्ट-सा हो गया। गज़ल समाप्त हो जाने पर जब वाह-वाह और खूब-खूब का कोहराम मच रहा था, वह लय की लहरों में गोता खा चुप रह गया।

जो भी मज़ाक करता है, अवध का सहयोग पाने की आशा से उसकी ओर देखता है, इसलिए घायल पशु की भांति, व्यथा में एकान्त की शरण ले पाना भी उसके लिए सम्भव नहीं। बिना सुने-समझे भी उसे निरर्थक सिर हिला देना या मुस्कान का नाट्य कर देना पड़ता है, सावधानी और व्यावहारिकता के चाबुक से मन को सजग कर देना पड़ता है।

ज़फर की भावपूर्ण गज़ल के मुकाबले में 'सिकन्दर' फिल्म का संग्राम गीत (मार्चिंग सांग) 'ज़िन्दगी है प्यार की प्यार से बिताए जा, हुस्न के हुज़ूर में अपना दिल लुटाए जा...' के बेतुकेपन की तुलना कर यासीन कह रहा था— 'जंग के मैदान और हुस्न के हुज़ूर में समन्वय क्या?"

सिन्हा ने कहा—"वाह साहब, समन्वय कैसे नहीं? सिपाही को दुनिया में दो ही चीज़ों से तो मतलब है, जंग और हुस्न?...यह उसकी बेफिक्री की तस्वीर है।"

यासीन चुप रह जानेवाला नहीं। अवध की ओर देख उसने कहा—"बेफिक्री और जंग में ही अगर गिरह जोड़नी है तो अपना वह गीत इससे बढ़कर है—

'ज़िन्दगी है ठेलमठेल, भंग पी औ दण्ड पेल,
घबरा मत मिट्टी के शेर, हँस के मार खाए जा।

अपना दम दिखाए जा।'

हँसी का कहकहा मच गया। लता इतनी ज़ोर से खिलखिला उठी कि आशंका हो गई, गिर न पड़े। अवध के होंठों पर हल्की-सी मुस्कान आकर रह गई। अवध का ध्यान लता की खिलखिलाहट की ओर गया। उसे जान पड़ा, लता मौका पाकर जितना हँस सकती है, हँस लेना चाहती है। अपना दु:ख भुलाने के लिए हँसने का बहाना ढूंढ़ती है।

विद्याभूषण का संगीत का मर्मज्ञ होने का दावा है। गोष्ठी में हँसी का प्रवाह कम होने पर वह बोला— "शब्दों का भाव जो हो, स्वर और ध्वनि की अपनी स्वतन्त्र शक्ति और मादकता है। पश्तो भाषा और होनोलूलू देश की भाषा के संग्राम-गीतों की ध्वनि आपके मस्तिष्क में एक-सा संवेदन पैदा करेगी, चाहे इन दोनों देशों की भाषाओं के शब्दों, अभिव्यक्तियों और भावनाओं में कोई साम्य न हो। संगीत स्वर में होता है, भावार्थ में नहीं...? उसने हथेली पर घूंसा जमाकर अपने मत का आग्रह प्रकट किया।

अवध ने देखा, लता की खिलखिलाहट गायब हो चुकी थी। वह अपने हाथों की अंगुलियाँ चटखाती हुई फर्श पर दृष्टि गड़ाए किसी ध्यान में डूब गई थी। उसने चाय का प्याला आधा ही पिया था। उपेक्षित प्याले में एक मक्खी गिर कर छटपटा रही थी। अवध लता की ओर देख रहा था, अपनी व्यथा में और उसकी चुप में साम्य समझने के लिए।

सिन्हा ने बहस की उपेक्षा कर नौकर को और गरम पकौड़ी लाने के लिए पुकारकर लता को सम्बोधित किया—"अजी होगा भी...आप सुनाइए, कुछ और सुनाइए!"

मिसेज़ सिन्हा विशेष अधिकार के स्वर में कुछ ठुनककर बोलीं—"लता, वही सुनाओ—'देखो-देखो जी बदरवा छाए!'...आहा, कैसी ज़ोर की घटा उठ रही है!" उन्होंने पलकें उठाकर खिड़की से बाहर झाँका और फिर महफिल की ओर देखकर बोलीं—"तेज़ रोशनी अच्छी न लगती हो तो मद्धिम करा दूं?" और सिन्हा से अनुरोध कर दिया, "ऊपर की बत्ती बुझाकर शेड वाला लैम्प जला दीजिए!"

"भाई खूब!" कहकर यासीन और दूसरे लोगों ने धुंधले प्रकाश के सुख का स्वागत किया। कमरे में प्रकाश धीमा हो जाने से आकाश में उमड़ते-घुमड़ते मेघों की घटाएं भी दिखाई देने लगीं।

मिसेज़ सिन्हा ने लता की ओर देखकर अपना अनुरोध दोहराया— "हाँ, वही 'देखो-देखो जी बदरवा!'..."

लता के मुरझाए चेहरे पर मुस्कराहट फूट आई, जैसे बादल में से चांदनी निखर आए —"बहुत पसन्द है आपको वह गीत!"

अवध से रहा न गया, बोल उठा—"जब दिल में दु:ख न हो तो उधार लिया दुख बहुत रसीला जान पड़ता है।"

लता कृतज्ञता में अपनी मुस्कराहट का भाग अवध से बंटाती हुई, माथे पर हाथ रख गीत के छन्द याद करने लगी।

अवध का मन कुछ द्रवित-सा हो गया। मानसिक रूप से वह अपने मन को स्थिर कर पाए कि लता का स्वर मध्यम से उठ पंचम में आ पहुँचा। गीत के भावों और स्वर में लय पर सिर हिलाते हुए उसकी खोई-सी आँखें छत की ओर उठ गईं। वह गा रही थी— 'कित गए हमारे सैयां, अजहूँ नहिं आए।'

अवध की अन्तरात्मा की पुकार लता के शब्दों के चुनाव और स्वर से सजीव हो उठी थी। वह भी अपने मन में विरह की व्यथा उठा देनेवाले व्यक्ति को आँखों के सामने अनुभव

कर, उसे अपने हृदय की पुकार सुनाने के अभिप्राय से तन्मयता से सिर हिलाने लगा। विरह-वेदना देनेवाले व्यक्ति के प्रति जितनी वेदना उसके मन में उठी, उतनी ही कृतज्ञता अपने हृदय की शिकायत सहानुभूतिपूर्ण स्वर में प्रकट करनेवाले के प्रति जाग रही थी। अवध मन-ही-मन शिकवा कर रहा था—

'कित गए हमारे सैयां, अजहुं नहिं आए...।'

मित्रों को लता के सौजन्य से अनुचित लाभ उठाने का अभ्यास हो गया था। एक के बाद एक, कई गाने उसे गाने पड़े। अब लता गा रही थी—

'ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ तेरे बगैर,
जैसे कोई गुनाह किए जा रहा हूँ मैं।'...

अवध ने मुस्कराने का यत्न करके कहा—"जब गुनाह जबरन कराया जाए, उसकी सज़ा और भी नागवार होती है।"

लता ने अवध की आँखों में देखकर, हाथ को आदाब के तर्क में हिलाते हुए कहा—"जनाब, यही तो बात है!"

लता की बात अवध को अपने हृदय की प्रतिध्वनि की भांति लगी। अवध अपने विचारों, स्वप्नों और कल्पना में डूबा हुआ था। उसके मन में समाकर, उसे ही दुःख देनेवाले व्यक्ति के अतिरिक्त शेष सब कुछ उसके लिए कमल के पत्ते पर से बह जानेवाली बूंदों के समान था।

उस दिन अवध का वीरभान के यहाँ निमन्त्रण था। अवध महफिल से बचना चाहता था परन्तु यह जानकर कि लता भी आ रही है, उसकी विरक्ति दूर हो गई। वीरभान ने कहा था—"ज़रा समय से आना। देर से बैठने पर जब तक बातचीत का रंग जमा पाते हैं, उठने का समय हो जाता है, समझे!"

उस दिन दफ्तर में अवध की ड्यूटी चौथे पहर की थी। उसे क्रोध आ रहा था, दैनिक पत्र का सहायक सम्पादक होना भी क्या मुसीबत है! चौबीसों घण्टे काम का समय। सहायक सम्पादक की ड्यूटियां ऐसे बदली जाती हैं, समय में उन्हें यों बांटा जाता है जैसे शतरंज के मोहरे हों। अवध उत्सुकता की दुविधा में दोपहर से ही लता के मुख से सुनी हुई गज़लें मन-ही-मन दोहरा रहा था—

'किस्मत में कैद थी लिखी फस्ले बहार में...!'

अवध ने अपने एक सहयोगी को तैयार कर लिया। सन्ध्या चार बजे से रात दस बजे तक वह अवध की ड्यूटी कर दे और रात के दस से सुबह तक अवध उसकी ड्यूटी निबाह देगा। लता के मर्मस्पर्शी स्वर में अपनी मर्मान्तक व्यथा सुन पाने के लिए अवध के हृदय में एक चुलबुलाहट थी, जैसे वायु स्पर्श से तालाब की सतह पर हल्की लहरें उठ आती हैं परन्तु केवल सतह पर; हृदय की गहराई स्थिर थी।

अवध को विश्वास था—'सतह की चुलबुलाहट के नीचे उसके गम्भीर और अडिग प्रेम का स्त्रोत स्थिर है जो केवल व्यथा की धारा उगलता है। लता की मौजूदगी से उठनेवाली लहरें केवल सतह पर हैं। लता बेचारी अच्छी है। अपने भोलेपन या अनजाने में उसके हृदय की पीड़ा से समवेदना प्रकट हो जाती है। ठीक है, उसके अपने हृदय की भी

व्यथा है...वह व्यथा को जानती है और उनका हृदय उसकी पुकार को गुंजा देता है, पर अपने, को क्या? खुश रहे बेचारी! अनजाने में मेरी व्यथा को सहला देती है।'...गायक वीणा के सहारे अपना आलाप पूरा करता है, वीणा स्वयं अनुभव नहीं करती। ऐसे ही लता भी अवध के हृदय की व्यथा से तटस्थ, नदी के किनारे खड़ी नदी से पृथक वस्तु थी।

वीरभान के यहाँ रंग जम नहीं पा रहा था। गाने के लिए कहने पर लता ने तकल्लुफ नहीं किया। उसने गज़ल सुना दी परन्तु रंग नहीं जमा। लता ने बेबसी से कहा—"ठीक से नहीं बन पा रहा है, तबीयत कुछ गिरी-गिरी-सी है।"

"तबीयत को संभालने के लिए ही तो गाने की ज़रूरत होती है।" अवध ने सुझाया।

"बहुत तबीयतदार आदमी हैं आप!" लता मुस्करा दी और अधमुंदी आँखों से गुनगुनाकर गाना शुरू कर दिया—

'मैं वो शम-ए-मज़ार हूँ, सबकी नज़र में खार हूँ,
शाम हुई जला दिया, सुबह हुई बुझा दिया।'

अवध टोके बिना न रह सका— "मुश्किल तो उस शमा की है, जो शाम को भी जलती है और सुबह भी।"

"अरे भाई दिन में शमा की क्या ज़रूरत?" ठुड्डी उठाकर सिन्हा बोला—"यह निरी शायरी है।"

अवध ने कविता की इस बेकद्री की उपेक्षा कर कहा—"खुद ज़रूरत से इस शमा को जलाता कौन है? यह तो वह आतिश है—जलाए न जले, बुझाए न बने!"

किसी ने दाद दी—"खूब-खूब!" कुरसी की बाजू पर हाथ मारकर भूषण ने कहा—"तो और अच्छा, कम्बख्त दिन-रात जलेगी तो खत्म भी जल्दी हो जाएगी, झगड़ा पाक होगा।" वीरभान की पत्नी कमला ज़ोर से हँस दी।

"खत्म हो जाए तब तो!" शिकायत के स्वर में लता ने कहा, परन्तु ऐसे कि कोई उनकी बात जानता न हो। अवध की दृष्टि लता के मुख पर गई। मुस्कराने का यत्न उसकी उदासी को छिपा न पा रहा था। वह आँखें झुकाकर साड़ी के छोर का एक धागा उंगलियों में बटने लगी। अवध की आँखों में सहानुभूति की नमी आ गई। अवध की आँखें लता की ओर से हटना न चाहती थीं परन्तु दूसरों की आँखों में आशंका थी। मन की व्यथा की गहराई को छिपाने के लिए उसके हृदय की तलैया की सतह पर विनोद की जो हल्की लहरें उठी थीं वे लता के प्रति सहानुभूति के ज्वार में ऊँची उठ आईं।

लता की प्रशंसा तो सभी करते हैं परन्तु महफिल के शोर-गुल में भी अवध का स्वर उसके कान में पड़ता है तो लता का ध्यान उस ओर केन्द्रित हो जाता है। एक कारण तो यह कि अवध की बात में पहेली का-सा आकर्षण होता है जो मस्तिष्क को गुदगुदा देता है। उसे लगता है कि उसके गाने की सबसे अधिक कद्र अवध ही कर पाता है। गज़लों के भाव की गहराई को जैसे अवध समझ पाता है, दूसरे लोग नहीं समझ पाते। अवध की सहृदयता और तन्मयता लता के लिए उसी प्रकार सहायक होती है, जैसे दुःखी को आश्वासन। लता और अवध में समझ सकने का नाता था। इससे परे अवध की ओर लता का ध्यान नहीं था, उससे अधिक सम्बन्ध लता का अवध से नहीं था।

लता स्थूल देखे-सुने जा सकने वाले संसार से पल-भर को भी सम्बन्ध टूटते ही अपने मन के एकान्त में पहुँच जाती थी। उसके हृदय को पूर्ण रूप से दबाए रहनेवाली और कभी द्रवित न होनेवाली निष्ठुर स्मृति वहाँ अडिग थी, वह उसे पल-भर के लिए भी

मुक्ति नहीं देती। वह स्मृति उसके हृदय को कुचलकर भी अपना प्रभुत्व उस पर जमाए थी। वह स्मृति कुण्डली मारे सांप की तरह लता के हृदय की बांबी के मुख पर बैठी थी। स्मृति का वह सर्प लता के हृदय की ओर आनेवाले जीव-जन्तुओं को फुफकार देता था। लता का हृदय पीड़ा और व्यथा पाने पर भी कुण्डली मारे स्मृति के सांप का ही था। वहाँ अवध के लिए जगह कहाँ थी? अवध की ओर से सहानुभूति का संकेत पाकर वह केवल दूर से देख, कुछ अनमने ढंग से कृतज्ञता से मुस्करा-भर सकती थी। लता के मन में उत्साह और पाने की इच्छा को निराशा और भुला सकने के प्रयत्न ने दबा लिया था। अवध और लता सौहार्द और निःसंकोच से एक-दूसरे से बात कर सकते थे क्योंकि वे अपनी-अपनी सीमाओं में रहते थे। परस्पर कुछ देने-पाने की सफलता के शिकवे की गुंजाइश वहाँ नहीं थी।

अवध एक दिन संध्या समय अकस्मात् सिन्हा के यहाँ पहुँच गया था। लता सिन्हा के यहाँ आई थी और जाने के लिए तैयार थी।

“ओहो! आपको कैसे मालूम था, मैं आ रहा हूँ?” जाने के लिए तैयार लता की ओर देख, विस्मय दिखाकर अवध ने पूछा।

“नहीं तो! ...कैसे कहते हैं आप?” लता ने भोले विस्मय से प्रश्न किया।

“मुझे देखते ही आप जाने के लिए उठ गईं!” शिकायत के स्वर में अवध ने उत्तर दिया।

“लीजिए, बैठी हूँ,” बैठकर लता बोली—”परन्तु देखिए, देर कितनी हो जाएगी? और फिर अकेले...दूर भी कितना है!” बेबसी से गर्दन एक ओर झुका उसने कहा। वह मुद्रा उसका स्वभाव बन चुकी थी।

अवध लता के स्वर में लाचारी अनुभव करके भी अपनी बात रखने के लिए बोला—”देर तो समझने की होती है। समय का तो काम ही है बीतते जाना। रही बात अकेले की, सो डर क्या है? सड़कों पर न भेड़िये के झुंड फिरते हैं और न डाकुओं के। बशर्ते डर मुझसे न हो, जहाँ कहिएगा पहुँचा दूँगा। और यह देखिए!” ऊपर की ओर संकेत कर उसने कहा—”आकाश को भी आपका इतनी जल्दी जाना मंजूर नहीं।” रुक-रुककर बरसने वाला भादों का बादल फिर ज़ोर से बरस पड़ा। लता परास्त हो जाने की मुद्रा में गर्दन कुर्सी की पीठ से टिकाकर बैठी रही।

मिसेज़ सिन्हा ने पानी-भरी हवा के झोंके से आँखों में शीतलता अनुभव कर अनुरोध किया—”लता, अब मौसम का खयाल कर अपने मन से कोई चीज सुना दो!”

लता ने कातर आँखों से सबकी ओर देखकर क्षमा माँगी—”जाने क्यों, ऐसे मौसम में तबीयत कुछ गिर-सी जाती है...दिन भर पड़ी रही। बहुत जी कड़ा करके शाम को ज़रा बाशी (सिन्हा के गोद के बालक) से दिल बहलाने चली आई। जाने कब से उठूं-उठूं कर रही हूँ, मगर उठ नहीं पाती। ऐसा जान पड़ता है, गिर जाऊँगी।”

“ऐसा जान पड़ता है। जैसे अपना-आप अपने हाथों में न हो!” सहानुभूति से अवध ने कह दिया।

“हाँ!” लता ने सिर हिला हामी भरी।

जैसे कठपुतली की डोरी टूट गई हो?” अवध ने और सहयोग दिया।

“आप तो मज़ाक करते हैं!” मुस्कराकर लता बाहर की ओर देखने लगी।

“यह मज़ाक है!” अवध ने दुहाई में आँखें फैलाकर गिला किया, परन्तु लता अभी बाहर ही देख रही थी।

मिसेज़ सिन्हा, लता और अवध की बातें अनसुनी कर गोद में सोए बालक की पीठ पर हाथ फेरते हुए बोलीं—"हाय, कितना अच्छा मौसम है!"

सिन्हा अपने साहित्य-ज्ञान का परिचय देने की इच्छा दमन न कर सका—"कामशास्त्र में लिखा है, वर्षा ऋतु के उमड़ते-घुमड़ते मेघ स्त्रियों में काम-रस उत्पन्न कर देते हैं।"

"क्या बातें किया करते हो तुम?" माथे पर बल डाल मिसेज़ सिन्हा ने पति को धमकाया। लता मानो सिन्हा और मिसेज़ की बातें सुन न रही थी, वह खिड़की से बाहर देखती रही।

मिसेज़ सिन्हा ने सबको चुप देख अपना अनुरोध दोहराया—"कुछ सुनाओ न लता!"

लता ने एक गहरी सांस ली। आँखें फर्श की ओर झुका लीं और गुनगुनाकर गाना शुरू कर दिया। वही गाना, वही पुराना राग, पुराना स्वर—'तूने फलक ये क्या किया, बुलबुल से गुल छुड़ा दिया।' लता को सिन्हा के अनुरोध से भी एक गज़ल सुनानी पड़ी।

अनुमोदन में सिन्हा सिर हिला प्रशंसा करता रहा—"वाह-वाह, खूब!"

अवध मौन था। वह गज़ल के बयान में खो गया था। सचेत हो उसने कहा—"पर बुलबुलें तो चहकेंगी ही, वे पैदा ही चहकने के लिए हुई हैं, जैसे आदमी जीने का प्रयत्न करने के लिए पैदा होता है, मरने का प्रयत्न करने के लिए नहीं।"

उपेक्षा से लता बोली—"ज़िन्दगी है क्या?...जीते रहने में ही क्या है?"

पानी ज़ोर से बरस रहा था। कमरे में बैठे लोग धरती पर जल गिरने के शब्द को सुन रहे थे। यह शान्ति मिसेज़ सिन्हा को खटकने लगी। गोद में सोए हुए बच्चे की पीठ पर हाथ फेरकर उन्होंने ज़िक्र शुरू किया— "बड़ी मुश्किल से सोया है। नींद ही नहीं आती थी।" वे कहती चली गईं—"दिन में अधिक सो जाए तो रात में नींद नहीं आती, तब बहुत तंग करता है।"

लता पानी थमते ही उठ गई—"अब चलूं, अम्मा जाने कितनी नाराज़ होंगी और क्या आश्चर्य, उन्होंने खोज के लिए कुओं-तलाबों में जाल डलवाने आरम्भ कर दिए हों।"

सिन्हा ने सिर खुजाकर कुछ परेशानी के ढंग से कहा—"टांगा..." उसका अभिप्राय था, ऐसे पानी में, इतनी रात गए टांगा कहाँ ढूंढ़ा जाए?

सिन्हा की चिन्ता को लता ने दूर कर दिया, बोली—"टांगा राह में मिल जाएगा...देखा जाएगा।"

सिन्हा भी लता को नीचे पहुँचा आने के लिए उतरा परन्तु आगे भीगी रात में अवध और लता को ही जाना था। कुछ मिनट पहले बरसा पानी ऊँची-नीची सड़क पर जगह-जगह पड़ा था। दोनों पानी और कीचड़ से बचते चले जा रहे थे। अवध फरफर करती ठंडी हवा में सिर ऊँचा करके बोला—"हवा तो खूब अच्छी है।"

लता ने अवध की बात पर हामी भर ली। वह मन-ही-मन अवध की बात के विषय में सोच रही थी—'आदमी जीने का प्रयत्न करने के लिए पैदा हुआ है, मर जाने के लिए नहीं!...पर कैसे?' फिर खयाल आया 'अवध की बात का उत्तर उसने ठीक नहीं दिया।' लता इस बार ठीक से बात करने के लिए अवध की ओर देखकर बोली—"हवा तो खूब है..." अधूरी बात कहकर रह गई।...

"क्यों?" अवध ने लता का उत्साह बढ़ाने के लिए पूछ लिया।

"सब अपनी जान से है...जब दिल ही बुझ जाए!" लता ने फिर भी अधूरी-सी बात

कह दी।

"दिल बुझ कहाँ जाता है? बुझ ही जाए तो फिर शिकायत कैसी? दिल चोट खा जाता है, कुचला जाता है परन्तु प्राण रहते वह फिर उठता है, क्योंकि जीवन गति है..."

लता सुनती जा रही थी, उपेक्षा से गर्दन एक ओर फेंके जैसे अपने विरुद्ध फैसला सुन रही हो। वह चुप थी परन्तु मन में सोचा—'अपने को इससे क्या? लेकिन ठीक भी हो सकता है।'

अवध ने लता को चुप देखकर कहा—"जब दिल जीवन की उष्णता का उपयोग नहीं कर पाता और उसकी उष्णता को राह नहीं मिलती तो वह जल उठता है। हृदय-दीपक में जब तक स्नेह का तेल हो वह जले क्यों न! दीपक की लौ स्वाभाविक गति से नहीं जल पाएगी तो धुआं उठेगा ही! प्रेम जीवन को पाने की प्रवृत्ति है। प्रेम के कारण जीवन की उपेक्षा करने लगे तो जीवन में विषमता आएगी ही।" अवध को सहसा ध्यान आया, उसकी बात का अर्थ क्या हो सकता है? बेमौका चल पड़नेवाले प्रसंग को सार्थक बना देने के लिए वह कहता गया—"जीवन की प्रेरणा से राह खोजते हृदय को एक जगह प्रकाश दिखाई दिया। वह उस प्रकाश की ओर आकृष्ट हुआ।...प्रकाश की वह झलक उसके सामने से हट गई। असफल और निराश हो जाने पर नया प्रकाश क्यों न खोजे? जब जीवन में स्वाभाविक गति से उष्णता उत्पन्न होती है तो चिनगारियाँ क्यों न दिखें। जीवन में समझ पाना ही तो प्रकाश है...।"

अवध अपने सब तर्कों के अनुकूल व्यवहार नहीं कर सकता था। वह स्वयं अपने जीवन को बोझ-स्वरूप निबाहे जा रहा था। लता के सम्मुख वह अपने अपराध को स्वीकार करके भी ठीक वही बात कहना चाहता था। उसके स्वर में सुनाने का आग्रह नहीं, प्रायश्चित की कातरता थी।

सड़क पर वह गली आई जिसमें अवध का मकान था। न अवध ने, न लता ने ही उस गली की ओर ध्यान दिया। दोनों फरफराती ठंडी हवा में, सड़क पर बनी तलैयों से बचते हुए चले जा रहे थे। लता का मकान आ गया। आगे एक साथ जा सकने का कारण न था।

लता अपने मकान के सामने चुप खड़ी रही। उसने कहा—"आपको इतनी दूर आने का कष्ट हुआ।" उसके स्वर की अस्थिरता से स्पष्ट था, मन का भाव शब्दों के अर्थ में नहीं था।

झीने काले बादलों में उतावली से भागते चांद ने झाँका, अवध लता की फैली हुई आँखों में झाँक रहा था। अवध ने अस्थिर स्वर में कहा—"कष्ट क्या; मैं तो अभी और चलना चाहता हूँ, बिना रुके चलते रहना चाहता हूँ।...चाहता हूँ, राह कभी समाप्त न हो।"

अवध की बात सुनकर लता के घुटनों में कम्पन अनुभव हो गया। बस, कुछ कह न सकी। दोनों हाथ उठाकर विदा की अनुमति के लिए नमस्ते कर दिया और अपने मकान में चली गई। लता का मन न माना। उसने ड्योढ़ी में से घूमकर देखा, उसे अवध की पीठ ही दिखाई दी। वह चला जा रहा था—छाया और चांदनी में गर्दन ऊपर उठाए।

अवध को लौटते समय सड़क पर जगह-जगह पड़े पानी से पांव बचा लेने का खयाल न रहा। अधिक-से-अधिक शीतलता अपने हृदय में भर पाने के लिए वह सजल वायु में नाक उठाए, पानी में जूता छपछपाता, धोती को छींटों से भरता चला जा रहा था। उसने लता के हृदय में भरा दुःख का धुआं दूर करने के लिए वायु को मार्ग देने के लिए खिड़की खोल दी थी। उस खिड़की से ही तर्क के झोंकों ने आकर स्वयं उसके हृदय में तर्क का तूफान खड़ा कर दिया। वह स्वयं उस तूफान में उड़ने लगा।

अवध घर लौटकर मेज़ के समीप रखी कुर्सी पर बैठ गया। उसकी मेज़ पर कांच के दो टुकड़ों के बीच दबी शोभना की तस्वीर खड़ी थी। उस शोभना की तस्वीर, जिसे अवध ने पूर्ण विश्वास से अपना हृदय सौंप दिया था, जिस शोभना ने अवध से बिछुड़ने पर प्राण त्याग देने की प्रतिज्ञा की थी और जो शोभना एक दिन अवध की, एक क्षण के लिए एक बार मिलने की प्रार्थना को अनसुनी कर, सब प्रतिज्ञाओं को भूल, पिता के परामर्श से एक आई. सी. एस. की बाँह का सहारा लेकर समाचार पत्र में अपना चित्र छपवा मधुयामिनी (Honeymoon) मनाने चली गई थी।

अवध ने अपनी कल्पना में शोभना की बेवफाई के शव पर अपनी वफादारी और जीवन की साध की समाधि बना ली थी। अवध ने उसी समाधि में आहें भरते-भरते मर जाने का निश्चय कर लिया था। तर्क की उत्तेजना में शोभना की तस्वीर कांच के टुकड़े में से निकालकर खिड़की की राह फरफराती हुई वायु में छोड़ दी।

अवध अनेक मित्रों के यहाँ अनेक निमंत्रण पा चुका था। व्यावहारिकता के नाते उसने भी एक दिन मित्रों को अपने यहाँ आमन्त्रित किया था। वह अनुरोध करने गया था। लता अवध का स्थान जानती थी।

लता को रात में नींद बहुत विलम्ब से आई थी। प्रातः उतने ही विलम्ब से नींद खुली। उस विलम्ब के लिए माता के उलाहनों के कारण दिन बिताना कठिन हो रहा था, किसी तरह एक बजा। वह चल पड़ी, अवध के मकान पर पहुँच गई। अवध के अनुरोध करने पर उसने आ सकने में असमर्थता प्रकट की थी परन्तु आ पहुँची थी। वह लज्जा से मरी जा रही थी। अब यों ही लौट पड़ना उपहास और लज्जा का कारण हो जाता। अपने-आपको संभालने के लिए साड़ी का आँचल सिर पर खींचते हुए दरवाज़ा लांघना ही पड़ा। वह भीतर पहुँची तो अवध शेरवानी पहनकर ड्यूटी पर जाने के लिए मेज़ से कागज़ समेट रहा था। अवध का मन विक्षिप्त था। उसे लता के कदमों की आहट तक न सुनाई दी।

लता ने साहस बटोरकर कहा—"नमस्ते...!"

अवध ने लाल उनींदी आँखें उठाकर चकित हो लता की ओर देखा।

लता ने इनकार कर दिया था—नहीं आ सकेगी और चली आई थी; अब क्या कह सकती थी!

लता की दृष्टि मेज़ पर रखे खाली फ्रेम पर पड़ गई। पहली दफा आने पर उसने उस फ्रेम में एक आधुनिक लड़की का चित्र देखा था और कौतूहल से उसे देखती रही थी। चित्र को देखकर लता ने कुछ कल्पना भी की थी। उसे विस्मय हुआ, यह फ्रेम खाली...!

लता ने मेज़ के समीप जा, खाली फ्रेम को छूकर अवध की ओर देखकर पूछ लिया —"तस्वीर क्या हुई?"

अवध ने पथराई आँखों से लता की ओर देखकर उत्तर दिया—"चली गई...जो पर्दा जीवन में आ सकनेवाली किरण को रोके है, उस पर जीवन निछावर कर देने से लाभ?... जीवन का द्वार खुला रहना बेहतर है। शायद प्रकाश की दूसरी किरण मिल सके।" उत्तर देकर उसने गर्दन झुका ली।

लता के पैर काँप गए। ज़ीना चढ़ते समय वह अपने को धिक्कार रही थी—'वह क्यों आ गई थी।' अब उसके चकराते हुए मस्तिष्क में सूझ पड़ने लगा—'आए बिना रहती कैसे?"

लता का हृदय काँप रहा था। अवध के सामने पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था परन्तु हृदय के सूनेपन की अपेक्षा कंपकंपी की पीड़ा में कितनी सान्त्वना थी...!

भस्मावृत चिनगारी

वह मेरे पड़ोस में रहता था। उसके प्रति मुझे एक प्रकार की श्रद्धा थी। उसका व्यवहार एक रहस्य के कोहरे से घिरा था। रहस्य बनावट का नहीं, जो आशंकित कर देता है; सरलता का रहस्य, जो आकर्षण और सहानुभूति पैदा करता है। वह साधारण से भिन्न था, शायद साधारण से कुछ ऊँचा।

उसके बड़े और छोटे भाइयों ने अपने श्रम से पिता की कमाई सम्पत्ति की बुनियाद पर स्वतन्त्र कारोबार की इमारतें सफलतापूर्वक खड़ी कर ली थीं। वे सफल गृहस्थ और सम्मानित नागरिक बन गए थे। वे पुराने परिवार-वृक्ष की कलमों के रूप में नई भूमि पा, नये परिवारों की लहलहाती शाखाओं के रूप में कल्ला उठे थे। पिता को अपने दोनों पुत्रों की सफलता पर गर्व व सन्तोष था।

और 'वह' सब सुविधा और अवसर होने पर और अपने शैथिल्य के कारण पिता की अधिक करुणा पाकर भी कुछ न बन सका। उसने यत्न ही नहीं किया। उसके पिता को इससे उदासी और निरुत्साह हुआ; परन्तु मैं उसका आदर करता था। उसमें लोभ न था। वह सन्तोष की मूर्ति था। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा उसमें न थी। वह त्यागी था। यही तो तपस्या है।

पिता की मृत्यु के बाद दोनों कर्मठ व्यापारी भाइयों ने हज़ारों की आमदनी होते हुए भी जब उत्तराधिकार की सम्पत्ति के बंटवारे में पाई-पाई का हिसाब कर, उसे केवल दो पुराने मकान देकर ही निबटा दिया; उसने कोई चिन्ता या व्यग्रता प्रकट न की। भाइयों की अपने से दस-बीस गुना अधिक आमदनी के प्रति उसे कभी ईर्ष्या करते नहीं देखा। घर में अर्थ-संकट अनुभव करके भी उसे कभी विचलित होते नहीं देखा। उसकी शान्त और सौन्दर्य की वृत्ति सभी जगह शान्ति और सौन्दर्य पा सकती थी। इनका स्त्रोत उसके भीतर था। वह अन्तर्मुख और आत्मरत था। कला के लिए उसका जीवन था और कला ही उसका प्राण थी। कला से किसी प्रकार की स्वार्थ-साधना उसे कला का अपमान जान पड़ता था।

उसके परिचय का क्षेत्र अधिक विस्तृत न था। परिचय से उसे घबड़ाहट होती थी। उसके चित्रों से प्रभावित होकर मैंने स्वयं ही उससे परिचय किया था। वह कुछ सकुचाया और फिर जैसे उसने मुझे सह लिया और आन्तरिकता भी बढ़ती गई। कभी वह सन्ध्या, दोपहर या बिल्कुल तड़के ही आ बैठता; उसका समय कोई निश्चित न था। कभी अकेले ही शहर से चार-पांच मील दूर जाकर बैठा रहता। उसका सब समय प्रायः किर्मिचमढ़ी टिकटी के आस-पास रंग धुली प्यालियों और कूचियों के चक्कर में बीत जाता था।

वह बहुत कम बोलता था। जब बोलता, उसमें बहुत-सी विचित्र बातें रहती थीं। सहमत हुए बिना भी उनकी कद्र करनी पड़ती थी। क्योंकि वह एक असाधारण व्यक्ति की

बातें थीं। सूखकर ऐंठ गए पत्तों और सूर्य की किरणों में मकड़ी के जाले पर झलमलाती ओस की बूंदों में उसे जाने क्या-क्या दीखता था?...वह उनमें खो जाता था।

एक दिन मई महीने में ठीक दोपहर के समय मोटर में छावनी से लौट रहा था। सूर्य की किरणों से वाष्प बन रही धूल में, बियाबान सड़क पर उसे अकेले शहर की ओर लौटते देखा। उसके समीप गाड़ी रोककर पुकारा—"इस समय कहाँ?"

"ऐसे ही ज़रा घूमने निकला था," उत्तर मिला।

विस्मयाहत होकर पूछा—"इस धूप में?" कार का दरवाज़ा उसके लिए खोलकर आग्रह किया—"आओ!"

"नहीं, तुम चलो!" अपनी धोती का छोर थामे, मेरे विस्मय की ओर ध्यान दिए बिना उसने उत्तर दिया।

एक तरह से जबरन ही उसे गाड़ी में बैठा लिया। मजबूरी की हालत में मेरे समीप कुछ क्षण चुपचाप बैठकर उसने धीमे से कहा—"देखो, कितना सुन्दर है...जैसे पालिश की हुई चांदी फैल गई हो! जैसे...जैसे...बरफ पड़ जाने के बाद उसका गुण बदल गया हो... White heat (श्वेत उत्ताप) और देखो, तरल गरमी की लपटें कैसे पृथ्वी से आकाश की ओर उठ रही हैं; जैसे पृथ्वी गरमी के तारों से धुनी जाकर आकाश की ओर उड़ी जा रही है।" मेरी ओर दृष्टि कर उसने कहा—"ज़रा यह काला चश्मा उतारकर देखो!"

मजबूरन चश्मा उतारना पड़ा। आँखों में जैसे तीर-से चुभ गए। और फिर जो उसने कहा था, ठीक भी जंचने लगा। सोचा, कितना असाधारण है यह व्यक्ति! यह शायद संसार के लिए एक विभूति है।

ऐसे ही एक दूसरे दिन शरद् ऋतु की सन्ध्या के समय बड़े पार्क के किनारे वृक्षों के नीचे से सूखी घास पर गिरे सूखे, कुड़मुड़ाए पत्तों को रौंदते, धोती का छोर थामे, अपना फटा पम्प शू रगड़ते उसे उतावली में चले जाते देखा।

पुकारा। उसने सुना नहीं।

अगले दिन उसके यहाँ जाकर देखा, वह तन्मय किर्मिच-मढ़ी टिकटी के सामने खड़ा कूची से रंग लगा रहा है। बहुत ही सुन्दर चित्र था—हाल में अस्त हुए सूर्य की गहरी, सिन्दूरी आभा आकाश में अर्धवृत्ताकार फैल रही थी। उस पृष्ठभूमि पर आकाश की ओर उठी हुई उंगली की तरह एक सूखे पेड़ की टहनी पर श्याम चिरैया का जोड़ा प्रणयाकुल हो रहा था।

विस्मय-मुग्ध नेत्रों से कुछ देर तक चित्र को देखकर उससे पूछा—"कल तुम पार्क के समीप से जा रहे थे, पुकारा तो तुमने सुना ही नहीं।"

प्रश्नात्मक दृष्टि से उसने मेरी ओर देख, कुछ सोचकर उत्तर दिया—"कल पार्क में चिड़िया के जोड़े को इस प्रकार देखा और वह तुरन्त ही उड़ गया...। सोचा, इस चीज़ को यदि स्थायी रूप दे सकूं...।"

उसके अनेक चित्रों 'निर्वासन', 'गौरीशंकर', 'गंगा और सागर' ने प्रसिद्धि नहीं पाई परन्तु विश्वास से कह सकता हूँ, जिस दिन पारखी आँखें उन चित्रों को देख पाएंगी, संसार चकित रह जाएगा। मुझे गर्व था ऐसे प्रतिभाशाली कलाकार की मैत्री का।

मेरा विचार था, वह सांसारिकता से तटस्थ है; भावुकता के साम्राज्य में ही वह रहता है। परन्तु एक दिन हम उसी के मकान पर बैठे थे। वह न जाने किस विचार में खो गया। उस चुप से उकताकर भी विघ्न न डाला। सोचा, न जाने किस अमूल्य कृति के अंकुर

इसके मस्तिष्क में जन्म पा रहे हों?

समीप के ज़ीने पर उसकी साढ़े तीन बरस की लड़की खेल रही थी। वह अलापने लगी—"पापा...पापा...पापा!" मानो नींद से जागकर उसने कहा—"How sweet — कितना मधुर...?" समझा, कलाकार भी मनुष्य होता है।

लक्ष्मी के लिए विद्वानों ने चपला शब्द ठीक ही प्रयोग किया है। वह स्थिर नहीं रहती। कलाकार के एक मकान में भूतों ने डेरा डाल दिया और उसका किराये पर उठना कठिन हो गया। उसकी आमदनी कम होती थी। अच्छे-भले मध्यम श्रेणी के खाते-पीते आदमी में उसकी हालत खस्ता हो गई, परन्तु उस ओर उसका ध्यान न गया। उपाय सुझाने और स्वयं उपाय कर देने के लिए तैयार होने पर भी उसने इस बात को महत्त्व न दिया। उसे इससे कोई मतलब न था। त्याग और तपस्या क्या दूसरी चीज़ होती है?

दूसरे बालक के प्रसव से पहले उसकी स्त्री बीमार हो गई। वह बीमारी असाधारण थी। खर्च भी असाधारण था। दो महीने में साढ़े तीन हज़ार रुपया खर्च हो गया। एक मकान पहले से गिरवी था, दूसरा भी गया। कोई शिकायत उसे न थी। उसने केवल इतना कहा—"यदि रुपये से मनुष्य के प्राण बच सकते हैं तो वह किसी भी मूल्य पर महंगा नहीं। किसी तरह स्त्री के प्राण बचें।"

इस दारुण संकट के बाद कलाकार की अवस्था और भी शोचनीय हो गई, परन्तु उसकी तटस्थता में किसी प्रकार का परिवर्तन न आया। फटी चप्पल में भी वह उतना ही सन्तुष्ट था जितना कि ग्लेसकिड के पम्प शू पहने रहने पर।

अनेक दिन तक वह दिखाई न दिया। सुना, एक चित्र में व्यस्त है। विघ्न न डालने के विचार से उसके घर भी न गया। मालूम होने पर, कि नया चित्र पूरा हो गया, देखने गया।

चित्र का नाम था—'जन्म-मरण'। चित्र प्रसूतिगृह का दृश्य था और शैया पर स्वयं उसकी स्त्री। रोगिणी के जीर्ण, चरम पीड़ा से व्यथित मुख पर मृत्यु का आतंक। उसकी आँखें नवजात शिशु की ओर लगी थीं जो उसकी पीड़ा और यन्त्रणा के मेघ से नक्षत्र की भांति अभी ही प्रकट हुआ था। प्रसूता के नेत्र प्रभात के आकाश की भांति कुहासे से धुँधले थे और उसकी पुतलियाँ बुझते हुए तारों की भाँति निस्तेज हो रही थीं। उस दिन चित्र को देख चुप रह गया। कुछ कह सकना भी सम्भव न था परन्तु अनेक दिन तक इस चित्र की स्मृति मस्तिष्क से न उतरी।

समाचार-पत्रों में पढ़ा, बम्बई में अखिल भारतीय चित्र-प्रदर्शनी होने जा रही है। कलाकार के सम्मुख उसके चित्र प्रदर्शनी में भेजने का प्रस्ताव किया। उसे उत्साह न था। उसका विश्वास था, स्वयं कला की पूर्णता में ही कला की साधना का फल है।

तर्क अनेक हो सकते हैं। समझाया—कलाकार की प्रतिभा यदि केवल उसके निजी सन्तोष के लिए ही सीमित न रहकर दूसरों के सन्तोष का भी कारण बन सके तो क्या हानि?

बहुत अनुरोध कर उन चित्रों को अपने खर्च पर बम्बई भिजवाया। प्रायः पन्द्रह दिन बाद प्रदर्शनी के संयोजकों का तार मिला—"यूरोप का कोई व्यापारी 'जन्म-मरण' चित्र के लिए पांच हज़ार रुपया कीमत देने के लिए तैयार है।"

चित्र मेरी ओर से भेजे गए थे, इसलिए तार भी मेरे ही नाम आया था। कलाकार की प्रकृति जानने के कारण यह प्रस्ताव उसके सम्मुख रखने में बहुत संकोच हो रहा था परन्तु यह भी विचार था, कि यदि इस चित्र के मूल्य से एक दुखी परिवार का क्लेश दूर हो सकता है तो यह कला का अपमान नहीं है। यह भी सोचा—'जो व्यक्ति अपनी कमाई का पांच

हज़ार रुपया चित्र में अंकित कला और भावना के लिए न्यौछावर कर रहा है, वह कलाकार की प्रतिभा और भावना दोनों का ही सत्कार कर रहा है।' बहुत संभलकर, अत्यन्त संकोच से वह प्रस्ताव उनके सामने रखा। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी।

तार से सौदा नामंजूर होने की सूचना दे दी। उत्तर आया, ग्राहक दस हज़ार देने को तैयार है। इस बार और भी अधिक संकोच से, कलाकार को सूचना दी। उसने उत्तर दिया —"मैं नहीं चाहता था, उन चित्रों को प्रदर्शनी में भेजा जाए। न मैं अपनी भावना का कोई मूल्य स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। तुम उन चित्रों को वापस मंगवा लो!"

क्रियात्मक क्षेत्र में इसे अव्यावहारिक समझकर भी कलाकार की त्याग-भावना और निःस्वार्थ कला-साधना के प्रति मेरे मन में आदर का भाव बढ़ गया। कलाकार की निष्ठा के प्रत्यक्ष उदाहरण से स्वीकार करना पड़ा, कला जीवन से भी ऊँची वस्तु है। बेशक साधारण जन की पहुँच वहाँ तक नहीं, परन्तु उस कला का अस्तित्व है अवश्य। सांसारिक स्थूलता में लिप्त रहकर हम उस कला के अतीन्द्रिय सूक्ष्म सन्तोष को पा नहीं सकते। यह न्यूनता कला की नहीं, हमारी अपनी अयोग्यता है। वह कला उसी प्रकार अनादि, अनन्त है जैसे आत्मा और अपौरुषेय शक्ति का अस्तित्व है। आप्त पुरुषों के अनुभव से ही साधारण पुरुष उसे समझ सकते हैं। कलाकार का सन्तोष इसका अकाट्य प्रमाण था। उस कला की अर्चना में कलाकार के परिवार का बलिदान इस सत्य का प्रमाण था कि कला से प्राप्त सन्तोष जीवन-रक्षा की भावना से भी अधिक प्रबल और महान है।

मैं स्वयं कला की वेदी से दूर हूँ। सांसारिकता की अड़चनों से छनकर आए कला के प्रकाश की सूक्ष्म किरणों को ही मैं पा सका हूँ। मैं कला की आराधना उसके पुजारी के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर से ही कर सकता था; जैसे यजमान पुरोहित द्वारा यज्ञकार्य का पुण्य प्राप्त करता है। मेरी उस श्रद्धा का स्थूल रूप था, कला के पुरोहित कलाकार की सेवा के लिए तत्परता।

कलाकार की स्त्री शनैः-शनैः बलि होते-होते एक दिन नवजात शिशु को छोड़ चल बसी। कलाकार शोक के आघात से कुछ दिन संज्ञाहीन-सा रहा। उसके पुत्र को स्त्री के भाई ले गए। संज्ञा लौटने पर कलाकार के होंठों पर एक मुस्कराहट आ गई। उसने एक और चित्र बनाया—एक प्रकाण्ड हिमस्तूप की दुरारोह चढ़ाई पर एक क्षीण-शरीर तपस्वी चढ़ रहा है। उसकी जीवनसंगिनी चढ़ाई में क्लान्त और जर्जर होकर गिर पड़ी है। तपस्वी यात्री दुविधा में है। वह घूमकर अपनी बरफ पर गिर पड़ी निष्प्राण संगिनी की ओर देखता है। दूसरी ओर हिम-स्तूप का शिखर सप्राण-सा हो उसे अपनी ओर आह्वान कर रहा है...।

इस चित्र की भाव-गरिमा से मैं अवाक् रह गया। चित्र क्या था, कलाकार की कूची से उसके जीवन की कहानी और उसके त्याग की महत्त्वाकांक्षा, कला के प्रति उसका सगर्व आत्म-समर्पण था। मैं अभिभूत रह गया; उस महान उद्देश्य से परे लघु जीवन की बात क्या?

फिर भी शंकालु मस्तिष्क में प्रश्न उठ ही आता था—कला की शक्ति जीवन में किस प्रकार चरितार्थ होनी चाहिए? कलाकार ने अपना उत्तर रेखा स्वरों में लिखकर चित्रपट पर स्थिर कर दिया था। प्रश्न करने पर उसने कहा—"अंधेरे आंगन में एक दीपक जलता है। उस दीपक का आलोक बहुत दूर से भी दिखाई पड़ता है और समीप से भी। दीपक की लौ के समीप आते जाने से प्रकाश को उज्ज्वलता मिलती है और दृष्टि को सुस्पष्टता; परन्तु यह दीपक को प्राप्त कर लेना नहीं है। प्रकाश के इस केन्द्र में है केवल अग्नि, जो तेल और बत्ती को जलाती है।

"दीपक की लौ प्रकाश की ओर देखनेवाले पथिकों की चिन्ता नहीं करती। और दीपक जलता रहने के लिए तेल और बत्ती का जलते रहना आवश्यक है।"

कलाकार का शरीर दारिद्र्य और अवसाद से क्षीण होता गया, परन्तु उसके नेत्रों की प्रखरता बढ़ती गई। वह अपनी साधना में रत था। जितना ही गहरा मूल्य वह अपनी इस आराधना के लिए अदा कर रहा था, उसी अनुपात में उसकी निष्ठा बढ़ती जा रही थी।

बहुत सुबह उठने का अभ्यास मुझे नहीं है, विशेषकर माघ की सर्दी में, परन्तु पिछले दिन थकावट अधिक हो जाने के कारण समय से एक घण्टे पूर्व सो गया था, इसलिए उठा भी कुछ पहले। समय होने से बरामदे में खड़ा सामने फुलवाड़ी की ओर देख रहा था—माली कुछ करता भी है या नहीं!

सुबह-सुबह गरम कपड़े पहने, हिरन के खुर जैसे छोटे-छोटे जूतों से खुट-खुट करते बन्नो ने आकर मेरी उंगली थाम ली—"पापा, अम छैर कन्ने जा रए हैं। पापा भैया भी गाड़ी में जारा है। राधा भी जा रई है। पापा, तुम...तुम भी चलो।"

श्रीमतीजी शाल में लिपटी बैठी रहती हैं परन्तु बच्चों को सुबह ही गरम कपड़े पहनाकर आया राधा के साथ सूर्य की प्रथम किरणों के सेवन के लिए सड़क पर भेज देती हैं। कारण—हमारा क्या है; परन्तु बच्चों का स्वास्थ्य ही तो सब कुछ है।

बन्नो मुझे उंगली से खींचे लिये जा रही थी, जैसे ऊँट की नकेल थामे उसका सवार आगे-आगे चला जा रहा हो। चेस्टर में सर्दी से सिकुड़ता हुआ बेटी की आज्ञा के अनुगत चला जा रहा था। वह मुझे सड़क तक ले आई और छोड़ना न चाहती थी। रात की पोशाक के धारीदार पायजामे में यों आगे जाना उचित न था। बन्नो को बहलाने के लिए इधर-उधर देख रहा था।

हमारे बंगले से लगी बाईं ओर की ज़मीन खां साहब ने ली थी। वह दस बरस से यों ही पड़ी है। उस ज़मीन पर चारदीवारी तक नहीं खींची गई थी। अपने बंगले की चारदीवारी की पुश्त पर दृष्टि पड़ी।

देखा, सूर्य की प्रथम किरणों में, दीवार के साथ उग आए ओस के भीगे झाड़-झंखाड़ में, एक फटी दरी के तिहाई टुकड़े पर मनुष्य के शरीर का काला ढांचा-मात्र पड़ा है; समीप टीन का एक डिब्बा और रोटी का ऐंठा हुआ टुकड़ा है। सूती कम्बल का एक टुकड़ा भी, जो शरीर से नीचे खिसक आया था, ढांचे पर पड़ा था। इस सर्दी में वस्त्र संभालने की सुध उस शरीर में न थी।

क्षण-भर में उसके पूर्व इतिहास की कल्पना मस्तिष्क में कौंध गई—'कोई भिखमंगा रात बिता रहा होगा, जाड़े में ऐंठ गया। शरीर निश्चेष्ट था। शायद मर गया!'

बच्चों को तुरन्त उस दृश्य से हटाने के लिए राधा के साथ आगे भेज दिया। समीप जाकर देखा। हाथ से स्पर्श करने में आशंका हुई; शायद कोई छूत की बीमारी हो। परन्तु था तो वह भी मनुष्य ही। छूकर देखा, बहुत क्षीण ऊँ-ऊँ स्वर। कराहट-सी सुनाई दी। अभी प्राण थे।

मनुष्य के प्रति करुणा और भय से मन विचलित हो गया। तुरन्त लौटकर हेल्थ-आफिसर अरोड़ा साहब को फोन किया। म्युनिसिपैलिटी की एम्बुलेंस आ गई। अपनी गाड़ी में मैं भी हस्पताल साथ गया। इधर-उधर कह-सुनकर उसे भरती करवा दिया। दो घण्टों बाद वह हस्पताल के गद्देदार पलंग पर लेटा था। गरम पानी की बोतलें उसके पांव और बगल में रख दी गई थीं। टोंटीदार प्याले से उसके मुँह में ब्राण्डी-मिला दूध दिया जा रहा था।

लौटा तो दोपहर हो रही थी। अपने काम का हर्ज अवश्य हुआ परन्तु सन्तोष था। बंगले के भीतर गाड़ी घुमाने से पहले, बंगले की बाईं ओर की खुली ज़मीन के सामने कलाकार को परेशानी की-सी हालत में भटकी नज़रों से खोजते देखा।

कलाकार के समीप जा पुकारा—"अरे भाई, तुम्हें कैसे मालूम हुआ! ... आज सुबह अचानक मेरी दृष्टि पड़ गई। कुल घण्टे-भर का मेहमान था। अब भी बच जाए तो बड़ी बात जानो...ओफ! मनुष्य का भी क्या है?"

उसी भटकी मुद्रा में कलाकार ने पूछा—"कहाँ गया वह?"

"अरे भाई, उसे ही हस्पताल में पहुँचाकर आ रहा हूँ। बड़ी मुश्किल से डाक्टर से कह-सुनकर भरती कराया...समझो लिहाज़ था!"

वह जैसे प्रबल निराशा से हताश होकर लौट पड़ा। अनेक बार बुलाने पर भी उसने लौटकर नहीं सुना। बहुत दूर तक मैं पैदल उसके पीछे गया। उसने पलटकर देखा नहीं। बेबसी में लौट आया।

सन्ध्या समय एक जगह जाना ज़रूरी था परन्तु कम्पनी की डाक भी ज़रूरी थी। शीघ्रता से कागज़ देख-देखकर दस्तखत करता जा रहा था कि कलाकार चौखटे में मढ़ी किर्मिच लिये कमरे में आ घुसा।

किर्मिच को मेरी ही मेज़ पर रखकर क्षोभ-भरे स्वर में उसने कहा—"दो दिन से इसे बना रहा था। तुमने बेड़ा गर्क कर दिया। अब तुम्हीं इसे संभालो।" अधूरे चित्र को छोड़कर वह लौट गया।

किर्मिच पर अधबने चित्र में सुबह का दृश्य जाग उठा था, वही मृतप्राय भिखमंगा। काले चमड़े से मढ़ा उसका पंजर, फटी दरी के टुकड़े पर एड़ियाँ रगड़ता हुआ कला के जादू से अधिक बीभत्स हो उठा था। उसके हाथ, खुले होंठ और हताश आँखें गुहार में आकाश की ओर उठी हुई थीं। चित्र अभी अपूर्ण था, परन्तु उसकी उग्र बीभत्सता अत्यन्त सजीव थी। पेंसिल की घसीट में चित्र पर उसका शीर्षक लिखा था—'भस्मावृत चिनगारी!'

कलाकार दो दिन से इस चित्र को बना रहा था। दो दिन से वह म्रियमाण नर-कंकाल की मृत्यु की यातना सह रहा था कि कला जीवन की चिनगारी के मृत्यु की भस्म से आच्छादित होकर बुझने का दृश्य अपनी सम्पूर्ण दारुण बीभत्सता के सौन्दर्य सहित प्रस्तुत कर सके।

उस नर-कंकाल को उसकी ठण्डी चिता से हस्पताल के पलंग पर हटा कर मैंने कला की पूर्ति में व्याघात डाल दिया था। मेरा यह अनाचार कलाकार के लिए असह्य था।

चित्र में मृत्यु की यातना से गुहार के लिए उठे हुए नर-कंकाल के हाथों से कला मेरे अनाचार के प्रति दुहाई दे रही थी...। कला की आत्मा मेरी भर्त्सना कर रही थी। मैं कला के सम्मुख अपराधी था।

मेरा दुर्भाग्य यह कि मुझे अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप का साहस भी नहीं।

वह चित्र, मानवता का चित्र अब भी वैसा ही है।

कलाकार क्षुब्ध है।

कला अपूर्ण है...शायद पूर्णता की प्रतीक्षा में है।

प्रतिष्ठा का बोझ

समझ लीजिए, उसका नाम केवलचन्द था।

केवलचन्द को अपने ही शहर अम्बाला में, 'मिलिटरी इंजीनियरिंग सर्विस' के दफ्तर में नौकरी मिल गई थी। उसे 1946 में भत्ता मिलाकर 85 रुपये की नौकरी मिल जाने से सन्तोष हुआ था। अम्बाला में उसका अपना छोटा-सा मकान था। 1946 में जब सब चीज़ों के दाम चौगुने हो गए तो 105 रुपये माहवार मिलने पर भी हाथ खाली रह जाते थे, कुछ बनता ही नहीं था। सफेदपोशी निबाहना भी सम्भव नहीं हो रहा था।

अम्बाला के 'मिलिटरी इंजीनियरिंग सर्विस' के कुछ लोगों ने आन्दोलन चलाया कि उनका महंगाई-भत्ता बढ़ना चाहिए, उन्हें क्वार्टर मिलने चाहिए। उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। केवलचन्द भी इस आन्दोलन में सम्मिलित हुआ। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि आगे बढ़कर बात कहने वाले लोग बर्खास्त हो गए। केवलचन्द के घर की अवस्था खराब थी। पिता की मृत्यु हो चुकी थी, बूढ़ी मां को दमा था, कुछ ही महीने पहले उसका विवाह हुआ था और पत्नी आते ही बीमार रहने लगी थी। रहने का मकान अपना ज़रूर था परन्तु महाजन के यहाँ रेहन था। उसने आन्दोलन में भाग लेने के लिए मुआफी माँग ली। वह नौकरी से बर्खास्त तो नहीं हुआ परन्तु उसकी बदली लखनऊ में हो गई थी।

केवलचन्द लखनऊ में रहने लायक जगह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते शहर-भर की सड़कों, बाज़ारों, गलियों-मुहल्लों और अहातों से परिचित हो गया। शहर की भिन्न-भिन्न स्तर की बस्तियों का जीवन उसने देखा। सिविल लाइन की कोठियों, बंगलों के भाग में जगह ढूंढ़ना व्यर्थ था। वह बड़े लोगों की जगह थी। वह शहर की घिच-पिच, बेरौनक जगहों में, जहाँ लोग मकान पर मकान बनाकर आकाश में टंगे पिंजरों में रहते थे, वहाँ की जगह ढूंढ़ रहा था। केवल ऐसी जगह में भी रहने के लिए तैयार न था, जहाँ शहर-भर का मल धोने वाले धोबी, मेहतर या बीकानेरी मोची सड़क के किनारे धुआंभरी कोठरी में जीवन के सब कर्म पूरे करते रहते हैं। जहाँ मकान की दहलीज के बाहर नाली में मल-मूत्र से मुक्ति पाकर दहलीज के भीतर चूल्हे पर पेट के लिए अन्न रंधता रहता है और वहीं चूल्हे में उपलों से उठते धुएँ में कच्चे चमड़े और रेह की दुर्गन्ध में मुनष्य के जीवन की सृष्टि और अवसान की सब क्रियाएं पूरी होती रहती हैं। ऐसे लोग शहर का गन्दा आँचल छोड़कर इसलिए नहीं जा सकते कि शहर के मालिक सम्पन्न लोगों को अपनी सेवा कराने के लिए इनकी आवश्यकता रहती है।

केवल को इन लोगों के ऐसा अमानुषिक जीवन स्वीकार करने पर क्रोध आया—ये लोग ऐसा जीवन क्यों स्वीकार करते हैं, क्यों ज़ालिमों की सेवा करते हैं? उत्तर था—तुम क्यों मि. इ. स. की नौकरी करते हो! ये लोग करें क्या? खाएं क्या? इनके लिए यही विधान है। केवलचन्द के लिए भी विधान था कि उसे दफ्तर में बैठकर 'ड्राफ्टमैनी' करनी होगी

और लखनऊ शहर में ही रहना होगा।

मकान न मिलने की समस्या ने उसके मन में, मकानों का मनमाना किराया वसूल करनेवालों के प्रति और जब दूसरों को सिर छिपाने की जगह भी नहीं मिल रही हो तब हर काम के लिए एक-एक पूरा कमरा रखने वालों के प्रति और अपने मकानों के सामने बड़े-बड़े बाग लगाकर जगह घेर लेने वालों के प्रति एक कटुता भर दी। जहाँ भी रहने लायक जगह मिलती, किराया माँगा जाता—पचास-साठ रुपये। यह थी किराये की लाठी, जिसके बल पर उसे खाली जगह में भी घुसने नहीं दिया जा रहा था।

पंडित शिवराम के पुत्र की बदली मुगलसराय में हो गई थी। वहाँ क्वार्टर मिल जाने के कारण पंडितजी का पुत्र पत्नी को भी ले गया था। पुत्र और पुत्रवधू के सोने की जगह, ऊपर टीन से छाई बरसाती खाली हो गई थी। पंडितजी ने दो मास का किराया पेशगी लेकर वह बरसाती केवलचन्द को तीन रुपये मासिक पर दे दी।

केवलचन्द उस बरसाती में अपना बिस्तर और बक्सा रखकर एक खाट खरीदकर लौटा ही था कि गली में, ऐरे-गैरे गुण्डों को बसा लेने के विरोध का कोलाहल सुनाई दिया।

पंडितजी की बरसाती से प्रायः आठ-दस हाथ जगह छोड़कर तिमंज़िले मकान की दीवार पक्की ईंटों की खड़ी थी। शायद पंडितजी के विरोध के कारण ही इस दीवार में खिड़कियाँ नहीं बनाई जा सकी थीं। इस ऊँचे मकान की दीवार में खिड़कियाँ बनने से साथ के मकानों का पर्दा बिगड़ता था। ऐसे ही कारणों से पड़ोस वैर का कारण बन जाता है।

इस तिमंज़िले मकान की तीसरी मंज़िल के छज्जे से एक स्थूल शरीर प्रौढ़ महिला मुँह और आँखें फैलाकर और हाथ बढ़ा-बढ़ाकर ऊँचे स्वर में पुकार रही थी—"आग लगे ऐसी कमाई में। आग लगे ऐसे लालच में। इन लोगों की ईंट-से-ईंट बज जाए। मुहल्ले में सांड़ लाकर बसा रहे हैं। मुहल्ले की बहू-बेटियों के पर्दे और इज़्ज़त का कोई ख़्याल नहीं।"

तंग गली के दूसरी ओर के मकान की खिड़की से भी एक सांवली-दुबली-सी प्रौढ़ा बोल उठी—"न जानें न बूझे, गली में लौंठें भरे जा रहे हैं। अपनी बहू को तो कमाई के लिए परदेश भेज दिया, दूसरों की आफत कर रहे हैं। सीधा खानेवाले की जात को इज़्ज़त का क्या ख़्याल! पैसे पर जान देते हैं। आग लगे ऐसे लोभ में!" इस विरोध के बाद महिला ने गली में बरसाती के सामने खुलने वाली अपनी खिड़कियाँ भीषण आहट से बन्द कर दीं। बाईं ओर के मकान से भी विरोध हो रहा था।

भगवान के इजलास में होती इस फरियाद पर एकतरफा डिगरी हो जाने की आशंका में पंडितानी भी अपने दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। वस्त्रहीन सीने पर एक हाथ से धोती का आँचल खींचे, दूसरी बाँह फैलाकर पंडितानी दुहाई देने लगी—"अपने मकानों में चार-चार किरायेदार भर रखे हैं। दूसरों को दो पैसा आता देखकर जिनके कलेजे में आग लगती है, उनसे भगवान समझें। इन्हीं कर्मों से तो जवानी में रांड़ हुई। दूसरों का पैसा खाकर जो भाग गया है वह कभी ज़िन्दा न लौटे।..."

पंडितानी ने तिमंज़िले मकान की मालकिन खत्रानी के अपकर्मों का भी प्रचार आरम्भ कर दिया।

सामने गली पार के छज्जे में एक बहू कुछ उधेड़बुन कर रही थी। उसने उठकर पर्दे के लिए जंगले पर एक चादर डाल दी।

बाईं ओर के मकान से एक बाबू हाथ में छतरी लिये दफ्तर जाने की पोशाक में निकले। पान का बीड़ा भरे मुँह से उन्होंने कलह करती स्त्रियों को आश्वासन दिया

—"पंडित को लौटने दो। सब पूछताछ हो जाएगी। गृहस्थों के मुहल्लों में ऐरे-गैरे लोगों का बसना कैसे हो सकता है? अकेले रहनेवालों के लिए बाज़ार में बैठकें है, होटल हैं।"

केवलचन्द को स्वयं दफ्तर जाने की जल्दी थी। इस विरोध से उसके हाथ-पांव उलझ रहे थे। वह कुछ न बोला। कोठरी में ताला लगाकर सिर झुकाए गली से जा रहा था। खत्रानी ने उसे लक्ष्य कर विरोध का स्वर ऊँचा कर दिया।

सन्ध्या समय केवलचन्द, संकट को जितनी देर हो सके, टालने के विचार से विलम्ब से मकान पर लौटा। अपनी सज्जनता के प्रति विश्वास पैदा करने के लिए वह गली में आते समय आँखें नीचे किए था। इस घर से उस घर में आती-जाती, जर्जर और मैली धोतियों में दृष्टि की पहुँच अपर्याप्त रूप से रक्षित नारियों को पर्दा कर लेने के लिए संकेत करते जाने के लिए वह खांसता भी जा रहा था।

खत्रानी अब भी प्रतीक्षा में छज्जे पर खड़ी थी। केवल को देखते ही उसने सुबह से स्थगित संग्राम की ललकार से गली को गुंजा दिया।

इस ललकार से पंडितानी भी बाहर निकल आई और खत्रानी के कुकर्मों का विज्ञापन कर उसका इतिहास बखानने लगी। केवलचन्द उर्दू और किताबी हिन्दी जानता था। लखनऊ की स्थानीय बोली समझने में उसे उलझन हो रही थी, परन्तु इस पहली ही सन्ध्या उसे अपने पड़ोसियों का पर्याप्त परिचय मिलता जा रहा था।

अंधेरा हो जाने और सब मकानों में रोशनी जल जाने पर केवल ने भी एक मोमबत्ती जला ली। नारी युद्ध का कोलाहल कुछ समय पूर्व दब चुका था। नीचे गली से पुकार सुनाई दी—'ए नये बाबू साहब! ज़रा नीचे तशरीफ लाने की तकलीफ गवारा कीजिए।"

गली में पुरुषों का एक प्रतिनिधि मण्डल उपस्थित था। कोई प्रश्न किए बिना उन लोगों ने गृहस्थों के मुहल्ले में अकेले पुरुषों के आकर रहने के अनौचित्य पर अपना मत प्रकट किया। केवलचन्द पंडित को अपना परिवार ले आने की बात कह चुका था। वही आश्वासन उसने इन लोगों के सामने भी दोहराया कि तीन-चार दिन की छुट्टी मिलते ही वह परिवार को ले आएगा। इस पर उसके जात-पांत, वंश और घर की पूछताछ हुई और प्रतिनिधि मण्डल उसे सबकी इज़्ज़त का खयाल करके शीघ्र ही स्त्री-पुत्र को ले आने की नसीहत देकर चला गया।

केवल ने खाट पर लेटकर विश्राम की सांस ली। परिवार को ले आने का आश्वासन तो उसने दे दिया था परन्तु दो खाटों के क्षेत्रफल के बराबर जगह में पूरे परिवार को कैसे बैठाए? और छोड़ आए तो किसे? चूल्हा, कहाँ बनाएगा? ज़ीने पर से पानी ढोते उसकी जान तबाह हो जाएगी।

पुरुषों के सन्तुष्ट हो जाने पर भी नारी-समाज में विरोध का आन्दोलन बिल्कुल नहीं दब गया था। विशेषकर तिमंज़िले मकान के ऊपर वाले छज्जे से। परिणाम प्रायः स्त्रियों में कलह होता और केवल का गली के इतिहास के रहस्यों का ज्ञान बढ़ता जाता। उसे मालूम हो गया कि पंडित के मकान से लगता तिमंज़िला मकान विधवा खत्रानी का है। उसमें दो किरायेदार हैं। खत्रानी दो ही सन्तान के बाद बीस-इक्कीस बरस की आयु से विधवा है। उसकी लड़की मर चुकी है। लड़का कम उम्र में ही सट्टा खेलने लगा था। ब्याह होते ही कहीं बहुत बड़ा घाटा गल्ले के सट्टे में खा बैठा और लेनदारों के भय से भाग गया था। खत्रानी के दो और भी मकान थे। लेनदारों को उसने अंगूठा दिखा दिया था। चुपके-चुपके गहना रखकर रुपया सूद पर देती थी। बहू उसकी बड़ी सुन्दर है। वह सास से दो कदम आगे है। सास उसे किसी के यहाँ जाने-आने नहीं देती। खुद शहर में गश्त करती है और

बहू को घर में छोड़ ताला लगा जाती है।

विरोध का पहला उबाल बैठ गया था। केवलचन्द के आ जाने से पड़ोस के मकानों में सुरक्षित नारी सौन्दर्य के प्रति आशंका का जो कोहराम उठ खड़ा हुआ था, उसने केवल के मन में उत्सुकता जगा दी थी। अब गली के लोग केवल को सहने लग गए थे। पड़ोसी उसे अपने कार्ड पर राशन और चीनी ला देने के लिए कहने लगे। दूसरी सहायता भी लेने लगे। अब वह कुछ ताक-झाँक भी करने लगा। सामने के मकान की खिड़कियाँ अब उतनी सख्ती से बन्द न रहती थीं। खत्रानी के मकान में स्त्रियाँ छज्जे के जंगले पर भीगी धोतियाँ सुखाने के लिए फैलाने आतीं तो केवल की खिड़की की ओर भी नज़र डाल जातीं। बीच की मंज़िल की बंगालिन आँचल अस्त-व्यस्त होने पर भी बिना झिझके छज्जे पर बैठी तरकारी छीलती रहती। यों दिखाई दे जानेवाली स्त्रियाँ प्रायः पीली, सांवली और मुर्झाई हुई थीं। अलबत्ता सामने के मकान में बहू की आँखें बड़ी नशीली थीं और उसका चेहरा भी खासा नमकीन था। केवल को इधर-उधर देखने की विशेष रुचि न होती थी। कहीं दृष्टि जाने पर वह वितृष्णा से मुस्करा देता—क्या इसी के लिए इतना शोर था?

गली के लोग केवलचन्द को सहने लगे थे, परन्तु उधर खत्रानी का विरोध बिल्कुल शान्त नहीं हो गया था। वह पड़ोस की, और अपने किरायेदारों की बहुओं को 'पंजाबी' की आशंकामय उपस्थिति से सतर्क करती रहती थी। उसकी अपनी बहू यदि क्षण भर को भी छज्जे में ठिठक जाती तो खत्रानी हाथ से छूट गई कांसे की थाली की तरह इतने ज़ोर से झल्ला उठती कि केवलचन्द की दृष्टि छज्जे की ओर उठे बिना न रह सकती। दृष्टि उधर उठती थी तो टिक भी जाती थी। बहू के दृष्टि से ओझल हो जाने पर केवल के हृदय से एक गहरी सांस उठ जाती थी, जैसे मांस में से कांटा खींच लिया जाने पर एक पीड़ा-सी होती है।

केवलचन्द कविहृदय न था। खत्रानी की बहू लछमी को देखकर उसे मेघों के बीच से झाँकते चांद, ओस से धुले चम्पा के फूल, तालाब में लहलहाते कमल की उपमा याद न आई। उसे जान पड़ा कि जौहरी की दुकान में डिबिया खुल जाने पर रूई में लिपटे किसी मोती पर उसकी दृष्टि पड़ गई हो। लछमी का रंग उसे ऐसा जान पड़ा जैसे केले का पेड़ फाड़कर भीतर से सफेद चिकना डंडा निकाल लिया हो। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें चेहरे पर खूब चमकती थीं। और माथे पर लाल बिन्दी ऐसी जान पड़ती थी कि किसी ने हाथीदांत में लाल नग जड़ दिया हो। वह छज्जे पर जाती तो उड़ती-उड़ती एक नज़र केवलचन्द की बरसाती की खिड़की के भीतर भी डाल देती। केवल को बैठा देखती तो भय से भाग नहीं जाती।

केवलचन्द के उस गली में आने पर जो विरोध हुआ था उसकी याद से कोई अनुचित साहस करते भय स्वाभाविक था, फिर खत्रानी के ही घर? यह बाघिन की मांद में जाकर उसके बच्चे पर हाथ डालना था। परन्तु उसकी आँख खत्रानी के छज्जे की ओर बरबस उठ जाती और बहू को पाकर वहीं टिकी रहती। दो सप्ताह ही बीते थे कि लछमी से उसकी आँख लड़ गई। लछमी ने देखा और खड़ी रही। तीन-चार दिन बाद फिर आँख मिलने पर लछमी ने मुस्करा दिया। उस समय केवल यह भेद नहीं कर पाया कि फूल झड़ गए या मोती बरस गए। वह बेबस होकर अपनी खाट से उछल पड़ा—परिणाम की चिन्ता न कर लछमी की ओर देखने लगा। समीप पहुँच सकने के लिए वह कुछ भी कर गुजरने के लिए तैयार हो गया।

लछमी प्रायः बुनाई-कढ़ाई का काम लेकर छज्जे में केवल की बरसाती की ओर आ

बैठती। गज़ भर ऊँचे लोहे के ढके हुए छज्जे की आड़ में होने के कारण सामने और इधर-उधर के मकानों की खिड़कियों से वह दिखाई न पड़ती थी। छज्जे के छेदों पर आँख लगाए वह केवल की ओर देखती रहती। छेदों के समीप होने के कारण वह तो केवल की प्रत्येक गतिविधि को स्पष्ट देख पाती, परन्तु केवल इतना ही जान पाता कि लछमी जंगले के साथ उसके सामने बैठी है। लछमी कभी ऊपर की खुली छत पर जाकर, दीवार पर से कुछ फेंकने के बहाने झाँककर, मुस्कान की एक झलक केवल को दिखा जाती। केवल तड़पकर रह जाता।

केवल का मन चाहता कि अपनी बरसाती में ही बैठा रहे, दफ्तर न जाए। लछमी को सामने मुस्कराते देखकर उसका मन ऐसे छटपटा उठता कि सिर फूटने की चिन्ता न कर सामने के छज्जे पर चढ़ जाए। उसकी आँखों ने दीवार की ईंटें गिनकर हिसाब लगा लिया था कि उसकी छत पर से ऊपर उठनेवाली खत्रानी के मकान की दूसरी मंज़िल बारह फुट ऊँची है और तीसरी मंज़िल दस फुट है। छज्जे की ऊँचाई दो फुट होगी। छः फुट तो वह खाट रखकर चढ़ जाएगा। शेष आगे छह फुट...क्या है? दफ्तर में ड्राफ्टमैनी करते समय खत्रानी के छज्जों की बनावट ही आँखों के सामने नाचती दिखाई देती रहती।

नवम्बर का महीना जा रहा था। ऊपर टीन की छत होने के कारण केवल की बरसाती रात में खूब ठिर जाती थी। पड़ोस की गलियों में ब्याह हो रहे थे। ठंड से नींद न आने पर वह स्त्रियों के गाने सुनता रहता और कुछ समझकर मुस्कराता जाता। वह लखनऊ आया था तो गरमी का मौसम था। बोझ से बचने के लिए वह लिहाफ साथ न लाया था। दिन में तो उसे जाड़ा मालूम न होता परन्तु रात में जाड़े से नींद टूट जाती थी। उस समय सोचता, छज्जे पर से चढ़कर लछमी के पास पहुँच जाए। इतवार की छुट्टी के दिन दोपहर में टीनों से छनती गरमी में लेटा वह लगातार लछमी के छज्जे की ओर देखता रहा। लछमी भी लाल ऊन और सलाइयाँ लिये छज्जे में आ बैठी थी। थोड़ी-थोड़ी देर में उसकी ओर देखकर मुस्करा देती थी।

केवल सोच रहा था—मोटी (परोक्ष में खत्रानी को गली के लोग इसी नाम से पुकारते थे) इस समय चादर ओढ़कर शहर घूमने गई होगी या किसी के यहाँ शादी-ब्याह में गई होगी। तभी लछमी निधड़क इतनी देर से बैठी है। जीने में सांकल लगाकर गई होगी। वह छज्जे से जा सकता था। दोपहर थी, पड़ोस के सब लोग देख लेते। लछमी से पहले बात हो जाए तब तो? बात कैसे हो?

केवल ने लछमी को दूर से ही कुछ बार देखा-भर था। बात कर सकने का प्रश्न ही नहीं था, परन्तु लछमी के प्यार में उसका शरीर और मस्तिष्क लथा जा रहा था। वह उस प्यार के लिए जोखिम उठाने को तैयार था। यह प्यार कैसा था? स्त्री-पुरुष का प्यार, जिसका कारण केवल प्रकृति होती है।

मंगलवार दफ्तर से लौटते समय वह कहीं कुछ देर के लिए रुक गया था। होटल से खाना खाकर सूर्यास्त के समय गली में लौट रहा था कि उसने खत्रानी और उसके पीछे बहू को धुस्से ओढ़े, हाथों में प्रसाद के दोने लिये घर से निकलते देखा। लछमी से उसकी आँखें चार हुईं। उसने मुस्कराए बिना दृष्टि नीची कर ली। दुबली-पतली हाथी दांत की मूरत लछमी केवल को दूर से जैसी दिखाई देती थी, समीप आने पर उससे दस गुनी सुन्दर लगी। जैसे लछमी के शरीर की सुगन्ध सांस में जा उसके हृदय में भर गई। उसका खून उबल उठा।

केवल चुपचाप अपनी बरसाती में चढ़ गया। सोचा, सास-बहू अमीनाबाद में

हनुमानजी के मन्दिर जा रही हैं। वह लौट पड़ा और तेज़ कदमों से अमीनाबाद की ओर चला। बाज़ार में कुछ ही दूर जाकर उसकी आँखों ने दोनों को ढूंढ़ लिया। उन्हें निगाह में रखे वह बाज़ार के दूसरी ओर चलने लगा।

मन्दिर के बाहर प्रसाद और फूलों की दूकानों पर बेहद भीड़ थी। सास ने बहू को ठेले-धक्के से बचाने के लिए एक ओर खड़ा कर दिया और फूल लेने के लिए भीड़ में धँस गई। बहू माथे पर चार अंगुल-भर आँचल खींचे, मेंहदी से रंगी चम्पई हथेली पर प्रसाद का दोना टिकाए एक ओर खड़ी रही। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें भीड़ पर तैर रही थीं।

केवल सास को ताड़ने के लिए आँखें भीड़ की ओर रखे लछमी के समीप बढ़ आया।

बहू ने हल्के से होंठ दबा लिये।

केवल धीमे से बोला—"प्यार करती हो?"

लछमी ने आँख झपकाकर अनुमति दी।

"मिलोगी नहीं?"

बहू ने फिर आँख झपकी।

"कब?"

"आज रात अम्मां गीतों में जाएंगी।"

"आएं?"

"किरायेदार हैं।"

"छज्जे से आ जाएं?"

बहू ने कह दिया—"किरायेदार जल्दी सो जाते हैं।"

केवल सास के आने से पहले टल गया।

लौटकर केवलचन्द दुविधा में था। खत्रानी का ज़ीना उसने देखा न था और छज्जे से चढ़ने में गिरने का काफी भय था। लौटते समय उसने आँखों-ही-आँखों में खत्रानी के ज़ीने का सर्वे किया और खाट पर बैठकर छज्जे की बनावट और दीवार के साथ लगे पानी के नल पर लगी कीलों की दूरी देखता रहा। उसकी दृष्टि बराबर उसी ओर लगी थी। लछमी छज्जे पर दिखाई दी और उसने सिर पर आँचल संभालने के बहाने हाथ दिखाकर अभी ठहरने का संकेत कर दिया। केवल स्वयं भी दूसरी मंज़िल में बत्ती बुझ जाने की प्रतीक्षा में था। इन कमरों के भीतर से छज्जे पर प्रकाश आ रहा था। सामने के मकानों में खिड़कियाँ सर्दी के कारण मुँदी थीं। केवलचन्द बाहर अंधेरी रात के पाले में बेचैनी से घूम-घूमकर प्रतीक्षा कर रहा था।

घण्टाघर से नौ का घण्टा बजने पर दूसरी मंज़िल की बत्ती बुझ गई। केवल ने पन्द्रह मिनट और प्रतीक्षा की। इस बीच लछमी कई बार छज्जे पर घूम गई थी।

केवल सवा नौ बजे खाट से उठ बाहर आया। खाट खत्रानी के मकान की दीवार से खड़ी कर वह चढ़ने को ही था कि ऊपर से कुछ उसके सिर पर टपका। केवल ने ऊपर झाँका। अंधेरे में लछमी के गोरे हाथ ने अभी और ठहरने का संकेत कर दिया।

केवल ने बिना आहट किए खाट उठा ली और भीतर जाकर छज्जे की ओर देखता प्रतीक्षा करने लगा। घण्टाघर से साढ़े नौ की 'टन्न' सुनाई दी। उस समय लछमी ने संकेत किया—आ जाओ!

केवल की खाट दूसरी मंज़िल की ऊँचाई में आधे से कुछ नीचे पहुँची, परन्तु वह दीवार के सहारे खाट की ऊपर की पटिया पर पांव रख खड़ा हो गया। बाँह उठाकर तीसरी मंज़िल के जंगले के नीचे छेदों में अंगुलियाँ फँसा ली और शरीर की तोलकर शरीर को

ऊपर उठाया। लोहे के एक खम्भे की मुंडेर पर पांव टिका लिया। इतना सहारा पाकर उसका दूसरा हाथ जंगले के सिर पर पहुँच गया। वह उचककर जंगले के भीतर जा पहुँचा। लछमी उसे बाँह में थाम तुरन्त भीतर ले गई।

केवल को पसीना आ गया था और उसका कलेजा धकधक कर रहा था। सांस धौंकनी की तरह चल रही थी परन्तु उससे भी अधिक उग्र थी उसकी चाह। उसने लछमी को बाँहों में इतने ज़ोर से समेट लिया कि उसे अपने शरीर में ही समेट लेगा। वह उसके होंठों को खा जाना चाहता था...।

सहसा ज़ीने के किवाड़ों की सांकल खनखनाकर गिरने की आहट हुई और साथ ही किवाड़ खुल गए। दरवाज़ा खुलने से ज़ीने की बत्ती का प्रकाश भीतर फैल गया। सास ने भीतर कदम रखा और आँखें तथा मुँह फैलाए हक्की-बक्की खड़ी रह गई।

सास ने ज़ोर से चिल्लाने के लिए सीने में सांस भरी...।

केवल की बाँहों में सिमटी लछमी प्रायः बेसुध हो गई थी। केवल ने उसे वैसे ही फर्श पर गिर जाने दिया। आत्मरक्षा के लिए वह सामने खड़ी, पुकारने के लिए तैयार सास पर टूट पड़ा। पुकारने के लिए खुले सास के मुँह से शब्द निकल पाने से पहले ही केवल ने सास के भरे-पूरे शरीर को बाँहों में लेकर समीप पड़े पलंग पर डालकर ऊपर से दबा दिया...।

केवल ने सास का गला नहीं दबाया परन्तु अवस्था ऐसी थी कि सास चिल्ला न सकती थी। सास ने दबे स्वर में विरोध किया, “हैं हैं, क्या करते हो?”

केवल के लिए विरोध को स्वीकार करना जीने-मरने का प्रश्न था।

बहू सुध संभालते ही कमरे से भाग गई थी।

दस मिनट बाद जब सास ने केवल की बाँहों से मुक्ति पाई तो केवल की गाल पर ठुनका देकर मुस्कराकर शिकायत की—”बड़े वैसे हो तुम!”

सास ने पूछा—”ज़ीने में तो ताला था, आए किधर से?”

केवल ने बताया। भय से सास के रोएं खड़े हो गए। उसके मुख से निकला—”हाय दैया!”

सास केवल को ज़ीने की राह नीचे पहुँचा देने को तैयार थी परन्तु केवल अपनी बरसाती के ज़ीने में भीतर से सांकल लगाकर आया था। सास ने उसे अपनी धोती दी कि छज्जे के खम्भे में बाँधकर आहिस्ता से नीचे उतर जाए।

अब खत्रानी बहू को छज्जे पर देखकर झुंझलाती तो बहुत धीमे से और प्रायः स्वयं छज्जे में आ बैठती। कभी वह आते-जाते केवल को गली में पुकार लेती, “भैये, तुम्हारे दफ्तर में चीनी, रासन का कारट मिलता होगा? भैये, चीनी की बड़ी किल्लत है। तुम तो होटल में पा जाते होगे। घर-बार वालों की मुसीबत है।” कभी पुकार लेती, “भैये, दफ्तर से आ रहे हो? चाय तैयार है। एक गिलास पी लो, बड़ा जाड़ा पड़ रहा है।” कभी केवल कोई चीज़ माँगने या पहुँचाने स्वयं भी चला जाता। वह ऐसा समय देखता कि सास न हो। केवल गली के लिए उपयोगी था। वह अपने परिवार को अम्बाला से नहीं ला सका, परन्तु अब इस विषय में कोई चर्चा नहीं उठती थी।

1944-45 में कलकत्ते पर जापानियों के बम पड़ने के खतरे से बड़ी-बड़ी कम्पनियों के दफ्तर यू. पी. में आ गए थे। बंगालियों ने आकर लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, आगरा में जो जैसा भी स्थान मिला, ले लिया। किराये ड्योढ़े-दूने तभी हो गए थे और फिर बढ़ते ही गए। खत्रानी ने भी अपना घर-बार ऊपर की मंज़िल में समेटकर दूसरी मंज़िल मुकर्जी

बाबू को तीस रुपये माहवार पर उठा दी थी। सन् 45 के अन्त और 46 के जनवरी में कलकत्ता निर्भय हो जाने पर बंगाली लोग लौटने लगे। मुकर्जी बाबू भी लौट गए।

केवल को गली में रोककर खत्रानी ने कहा—'भैये, उस टिन के छप्पर के नीचे कैसे गुज़र होती होगी। ऊपर से गरमी आ रही है। चाहो तो मुकर्जी बाबू की जगह आ जाओ, आराम से रह तो पाओगे!"

केवल प्रसन्नता से मुकर्जी की जगह चला गया।

गली में फिर से कोहराम मच गया। पंडितानी ने दरवाज़े में खड़े होकर गरीबों के पेट पर लात मारनेवालों को भैरव बाबा को सौंपा। खत्रानी ने टीन के पिंजरे में फँसाकर लोगों को लूटनेवालों को गालियाँ दीं—"इसने खसम बसा लिया था; जा रहा है तो इसे आग लग रही है। तेरा खरीदा हुआ गुलाम है क्या?"

केवल ने गली के लोगों से कायदे की बात कही—उतनी जगह में वह बाल-बच्चों को कैसे लाता? अब ढंग की जगह मिली है तो जाकर उन लोगों को ले आएगा।

बंगाली लोग तो म्लेच्छ होते हैं, मांस-मछली खानेवाले। केवल अरोड़ा था। अरोड़ा और खत्री में क्या भेद! प्रकट में केवलचन्द खत्रानी का किरायेदार ही था। भीतर-ऊपर की दोनों मंज़िलों में अधिक भेद न रहा, परन्तु सास बहू पर कड़ी निगाह रखती थी। कभी धमकाती कि मायके भेज दूंगी। फिर कहती कि इसके घर के लोग बड़े वैसे हैं, जो कुछ ले जाएगी सब वहीं रख लेंगे। केवल और बहू को कभी-कभी ही एकान्त में मुस्कराने का अवसर मिलता। केवल के लिए यह—अरुचिकर परिश्रम सहने का पुरस्कार था।

बरसाती में रहते समय केवलचन्द घर के लिए कुछ भी रुपया न भेज सका था। उस मास उसने घर से आए दुःख-भरे पत्र के जवाब में अपनी आधी तनखाह भेज दी। होटलवाले को कुछ भी न दे पाया। आए मास किराया देने के बजाय खत्रानी से दो सौ और उधार लेकर कर्जे उतारे, कुछ घर भेजा और भला आदमी दिखाई देने के लिए एक सूट सिला लिया।

केवल के पांच मास मौज में कट गए। खत्रानी प्रायः सुबह-शाम उसे खाने के लिए भी बुला लेती—"भैये, बाज़ार का खाना क्या अच्छा लगता होगा; यहीं खा लो।" खत्रानी को भी फायदा था कि केवल के राशन कार्ड पर चीज़ें आधे दामों पर मिल जाती थीं। ऋण के लिए उसने केवल को परेशान नहीं किया। अलबत्ता कभी याद दिला देती, "भैये, अबकी तनखाह पर हमें दे देना। हमें ज़रूरत हैगी। तुम जानते हो हिसाब भाई-भाई और बाप-बेटे में भी ठीक होता है।"

सन्ध्या समय केवल को असुविधा होती। वह लछमी से बात करना चाहता और सास अपने भारी-भरकम शरीर की आड़ में लछमी को छिपाकर डांट देती—"तू जाकर लेटती क्यों नहीं। पराए मर्द के मुँह लगती है, मुँहजली!"

छः मास बीत गए। खत्रानी का स्नेह केवल को संकट मालूम होने लगा। सोचता—कहीं दूसरी जगह कमरा ले ले। उसे अनुभव होता था, वह बहुत कमज़ोर होता जा रहा है, परन्तु करता क्या? यह उसकी मर्दानगी को चुनौती थी। रात नौ-दस बज जाने पर भी यदि खत्रानी सोने के लिए ऊपर न चली जाती तो वह घबराने लगता और बाहर छज्जे पर जाकर खड़ा हो जाता। अपनी पुरानी बरसाती की ओर देखकर सोचता—इससे तो वहीं अच्छा था।

केवल को छज्जे पर बहुत देर खड़े देखकर खत्रानी मुँह में पान भरे धीमे से पुकार बैठती—"भैये, अब सोओगे नहीं?"

केवल का जी चाहता कि छज्जे से धोती लटकाकर उतर जाए, जैसे एक बार जान पर खेलकर यहाँ चढ़ आने पर लौटा था।

जान पर खेलना अब जाल का जंजाल हो गया था। लछमी भी अब उसे ऐसे लगने लगी जैसे सुन्दर चमकीला सांप हो। वह उससे भी कतराता रहता।

दफ्तर जाते और लौटते समय वह प्रतिदिन सोचता—यदि वह अपने बिस्तर और बक्स के लिए न लौटे तो क्या है? बिस्तर और बक्स का मूल्य खत्रानी के कर्ज़े से अधिक न था।

परन्तु अब गली में उसकी स्थिति दूसरी थी। लोग उसे सन्देह और विरोध की दृष्टि से नहीं परिचय और विश्वास से देखते थे। सलीके से पहने उसके सूट के कारण दफ्तरों के बाबू लोग उससे अपनेपन और समानता का व्यवहार करते थे। यह सब छोड़कर वह कर्ज़े के डर से भागने का कमीनापन करे? चोर की तरह गली-गली छिपता, मारा-मारा फिरे?...

उसका शरीर निर्बल और मन उदास होता जा रहा था। कमर में दर्द रहता था, परन्तु वह गली में जम गई अपनी सफेदपोशी की प्रतिष्ठा के बोझ को निबाहे जा रहा था...।

फूलो का कुरता

मुझे यदि संकीर्णता और संघर्ष से भरे नगरों में ही अपना जीवन बिताना पड़ता तो मैं या तो आत्महत्या कर लेता या पागल हो जाता। भाग्य से बरस में तीन मास के लिए कालिज में अवकाश हो जाता है और मैं नगरों के वैमनस्यपूर्ण संघर्ष से भागकर पहाड़ में, अपने गांव चला जाता हूँ।

मेरा गांव आधुनिक क्षुब्धता से बहुत दूर, हिमाचल के आँचल में है। भगवान की दया से रेल, मोटर और तार के अभिशाप ने इस गांव को अभी नहीं छुआ है। पहाड़ी भूमि अपना प्राकृतिक श्रृंगार लिये है। मनुष्य उसकी उत्पादन शक्ति से सन्तुष्ट है।

हमारे यहाँ गांव बहुत छोटे-छोटे हैं। कहीं-कहीं तो बहुत ही छोटे दस-बीस से लेकर पांच-छः घर तक और बहुत पास-पास। एक गांव पहाड़ की तलहटी में है तो दूसरा उसकी ढलवान पर। मुँह पर हाथ लगाकर पुकारने से दूसरे गांव तक बात कह दी जा सकती है। गरीबी है, अशिक्षा भी है परन्तु वैमनस्य और असन्तोष कम है।

बंकू साह की छप्पर से छाई दूकान गांव की सभी आवश्यकताएं पूरी कर देती है। उनकी दुकान का बरामदा ही गांव की चौपाल या क्लब है। बरामदे के सामने दालान में पीपल के नीचे बच्चे खेलते हैं और ढोर बैठकर जुगाली भी करते रहते हैं।

सुबह से ज़ोर की बारिश हो रही थी। बाहर जाना सम्भव न था। इसलिए आजकल के एक प्रगतिशील लेखक का उपन्यास पढ़ रहा था।

कहानी थी: “एक निर्धन कुलीन युवक का विवाह एक शिक्षित युवती से हो गया था। नगर के जीवन में युवक की आमदनी से गुज़ारा चलता न देखकर युवती ने भी नौकरी कर कुछ कमाना चाहा परन्तु यह बात युवक के आत्म-सम्मान को स्वीकार न थी। उनके सन्तान पैदा हो गई, होनी ही थी। एक, दो और फिर तीन बच्चे। महंगाई के ज़माने में भूखों मरने की नौबत आ गई। उनका बीमार हो जाना। अपनी स्त्री की राय से नवयुवक का एक सेठजी के यहाँ नौकरी करना और उनका खुशहाल हो जाना।

“एक दिन राज़ खुला कि नवयुवक की खुशहाली का मोल उनकी अपनी योग्यता नहीं, उनकी पत्नी की इज़्ज़त थी। पति ने क्रोध के आवेश से पत्नी का गला घोंटने का यत्न किया। पत्नी ने गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगी—जो कुछ किया इन बच्चों के लिए किया। पत्नी ने केवल बच्चों को पाल सकने के लिए प्राण-भिक्षा माँगी। पति सोचने लगा—मेरी इज़्ज़त का मोल अधिक है या तीन बच्चों के प्राणों का?”

मैंने ग्लानि से पुस्तक पटक दी। सोचा—यह है हमारी गिरावट की सीमा! आज ऐसा साहित्य बन रहा है जिसमें व्यभिचार के लिए सफाई दी जाती है। यह साहित्य हमारी संस्कृति का आधार बनेगा। हमारा जीवन कितना छिछला और संकीर्ण होता चला जा रहा है। स्वार्थ के बावलेपन की छीना-झपटी और मारोमार हमें बदहवास किये दे रही है। हम

अपनी उस मानवता, नैतिकता और स्थिरता को खो चुके हैं जिसका विकास हमारे आत्म-द्रष्टा ऋषियों ने संकीर्ण सांसारिकता से मुक्त होकर किया था। हम स्वार्थ की पट्टी आँखों पर बाँधकर भारत की आत्मज्ञान की संस्कृति के परम शान्ति के मार्ग को खो बैठे हैं। क्या पेट और रोटी ही सब कुछ है? इससे परे मनुष्यता, संस्कृति और नैतिकता कुछ नहीं है? ऐसे ही विचार मन में उठ रहे थे।

बारिश थमकर धूप निकल आई थी। घर में दवाई के लिए कुछ अजवाइन की ज़रूरत थी। घर से निकल पड़ा कि बंकू साह के यहाँ से ले आऊँ।

बंकू साह की दूकान के बरामदे में पांच-सात भले आदमी बैठे थे। हुक्का चल रहा था। सामने गांव के बच्चे 'क्रीड़ा-कीड़ी' का खेल खेल रहे थे। साह की पांच बरस की लड़की फूलो भी उन्हीं में थी।

पांच बरस की लड़की का पहरना और ओढ़ना क्या। एक कुर्ता कन्धे से लटका था। फूलो की सगाई हमारे गांव से फर्लांग भर दूर 'चूला' गांव में सन्तू से हो गई थी।

सन्तू की उम्र रही होगी, यही सात बरस। सात बरस का लड़का क्या करेगा? घर में दो भैंसें, एक गाय और दो बैल थे। ढोर चरने जाते तो सन्तू छड़ी लेकर उन्हें देखता और खेलता भी रहता; ढोर काहे को किसी के खेत में जाएं। सांझ को उन्हें घर हाँक लाता।

बारिश थमने पर सन्तू अपने ढोरों को ढलवान की हरियाली में हाँककर ले जा रहा था। बंकू साह की दूकान के सामने पीपल के नीचे बच्चों को खेलते देखा तो उधर ही आ गया।

सन्तू को खेल में आया देखकर सुनार का छः बरस का लड़का हरिया चिल्ला उठा —"आहा, फूलो का दूल्हा आया।"

दूसरे बच्चे भी उसी तरह चिल्लाने लगे।

बच्चे बड़े-बूढ़ों को देखकर बिना बताए-समझाए भी सब-कुछ सीख और जान जाते हैं। यों ही मुनष्य के ज्ञान और संस्कृति की परम्परा चलती रहती है। फूलो पांच बरस की बच्ची थी तो क्या? वह जानती थी, दूल्हे से लज्जा करनी चाहिए। उसने अपनी मां को, गांव की सभी भली स्त्रियों को लज्जा से घूंघट और परदा करते देखा था। उसके संस्कारों ने उसे समझा दिया था, लज्जा से मुँह ढक लेना उचित है।

बच्चों के उस चिल्लाने से फूलो लजा गई परन्तु वह करती तो क्या? एक कुरता ही तो उसके कन्धों से लटक रहा था। उसने दोनों हाथों से कुरते का आँचल उठाकर अपना मुख छिपा लिया।

छप्पर के सामने, हुक्के को घेरकर बैठे प्रौढ़ भले आदमी फूलो की इस लज्जा को देखकर कहकहा लगाकर हँस पड़े।

काका रामसिंह ने फूलों को प्यार से धमकाकर कुरता नीचे करने के लिए समझाया।

शरारती लड़के मज़ाक समझकर 'हो-हो' करने लगे।

बंकू साह के यहाँ दवाई के लिए थोड़ी अजवायन लेने आया था परन्तु फूलो की सरलता से मन चुटिया गया। यों ही लौट चला।

सोचता जा रहा था—बदली स्थिति में भी परम्परागत संस्कार से नैतिकता और लज्जा की रक्षा करने के प्रयत्न में क्या हो जाता है।

प्रगतिशील लेखकों की उघड़ी-उघड़ी बातें...।

हम फूलो के कुरते के आँचल में शरण पाने का प्रयत्न कर उघड़ते चले जा रहे हैं और नया लेखक हमारे चेहरे से कुरता नीचे खींच देना चाहता है...।

उत्तराधिकारी

दानपुर के इलाके की गरीबी के खयाल से हरसिंह का परिवार अच्छा खाता-पीता था। उसके बाप और चाचा ने पुश्तैनी ज़मीन बांटी नहीं थी। उसके चाचा के लड़के, दो छोटे भाई भी थे। खेती के काम-काज के लिए घर में आदमियों की कमी न थी। उतनी ज़मीन पर कितने आदमी काम करते? पहाड़ के छोटे-छोटे खेतों में एक आदमी मेहनत करे या दो, फसल की निकासी में कुछ फरक नहीं पड़ता। मर्द खेत जोतकर औरतों के हवाले कर देते हैं और लुनाई तक वे ही उन्हें संभालती हैं। गोरू और भेड़-बकरी की रखवाली बच्चे कर लेते हैं। उनके सीधे-सादे जीवन की सभी आवश्यकताएं वहाँ पूरी हो जाती हैं। अपने खेतों में मंडुआ और चुआ का अनाज, गौओं से दूध-घी और घर की भेड़ों की ऊन से कता-बुना कपड़ा। मर्दों के कन्धों से कमर तक, घर के बुने कम्बल का गाता लोहे के एक बड़े सुए से संभला रहता है। कमर ढकने के लिए कभी हाथ-भर और कभी बालिश्तभर चौड़ा कपड़ा। स्त्रियाँ भी ऐसा ही गाता और नीचे मोटा लहंगा पहने रहती हैं। शौक किया तो गाते के सुए में चांदी की ज़ंजीर लटका ली।

पहाड़ी देहातों के आपसी विनिमय में रुपये-पैसे की ज़रूरत प्रायः नहीं पड़ती परन्तु कुछ काम हैं जो रुपये से ही पूरे होते हैं। सरकारी मालगुज़ारी, गहना, ब्याह-शादी का दस्तूर और कभी अदालत-कचहरी का काम रुपये के बिना निभ नहीं सकते। दानपुर में ऐसी कोई पैदावार या कारोबार नहीं जो रुपया लाए। जितना पैदा होता है, वहीं खप जाता है। दानपुर में रुपया आता है—कुछ तो निगला की चटाइयों की बिक्री से और खासकर सरकारी खज़ाने से सिपाहियों की तनख्वाहों और पेन्शनों के रूप में।

दानपुर की पट्टी खूब फली हुई है परन्तु खेती और बस्ती कम, जंगल और पहाड़ी ज़्यादा। सरकारी खज़ाने से लगभग दो लाख रुपया सालाना तनख्वाहों और पेन्शनों के रूप में वहाँ आता है। इस रुपये का मूल्य दानपुरिये अपने जवानों की ज़िन्दगियों और खून से चुकाते हैं। दानपुरिया जवानों के गठीले, सबल और दृढ़ शरीर, उनकी निर्धनता और भोलेपन के कारण ब्रिटिश साम्राज्यशाही की सेनाओं के लिए भरती करनेवाले अफसर इन्हें सदा चाव और पक्षपात की दृष्टि से देखते रहे हैं। वहाँ विरला ही परिवार होगा जिसने सेना को जवान न दिए हों। दानपुर के जवानों की हड्डियों से दूर-दूर देशों की भूमि उर्वरा हुई है। दानपुरियों के पास रुपया कमाने का दूसरा उपाय है भी नहीं।

दानपुर में ब्याह कम उम्र में ही हो जाते हैं। हरसिंह का भी ब्याह जल्दी ही हो गया था। उसकी बहू बारह बरस की हुई तो ससुराल आ गई। घर और खेती का काम बंटाने को दो हाथ और हो गए। हरसिंह के दो चचेरे छोटे भाई भी थे। बहनें गईं तो बहुएं आने लगीं। हरसिंह बीस बरस का हो गया था। वह रानीखेत जाकर अंग्रेज़ सरकार बहादुर की फौज में भरती हो गया।

हरसिंह के बाप और चाचा निभाते चले आ रहे थे, परन्तु परिवार बढ़ा तो खटपट भी होने लगी। हरसिंह के चाचा के लड़कों का खयाल था—'काम तो सब हम ही करते हैं, ज़मीन कहने को साझी है। ताऊ का लड़का पलटन में चला गया और उसकी तनख्वाह ताऊ अपनी जेब में रख लेता है।'

हरसिंह का बाप सोचता—'अब मैं लड़के की कमाई से खेत-ज़मीन खरीदूं तो उसमें हिस्सेदार दूसरे भी होंगे!' आखिर पंचायत में बंटवारा हो गया।

हरसिंह बरस-के-बरस छुट्टी पर आता और अपनी बहू 'मानी' की भरती हुई जवानी देखता। हरसिंह की बहू पन्द्रह बरस की हो रही थी। उस साल हरसिंह छुट्टी पर घर नहीं आ सका। पड़ोसी गांव के दूसरे सिपाहियों में से भी बहुत कम घर आए। हरसिंह छुट्टी पर नहीं आया लेकिन पटवारी के यहाँ से हरसिंह के घर सन्देश आया कि तुम्हारा लड़का लाम पर समुद्र-पार चला गया है। तुम डाकखाने जाकर उसकी तनख्वाह ले लो। हरसिंह जब तक समुद्र-पार रहेगा, हर माह इसी प्रकार तनख्वाह मिलती रहेगी।

मानी ने अपने आदमी के समुद्र-पार चले जाने की बात सुनी तो उदास हो गई, पर उदास होकर बैठने से चलता कैसे? घर और खेती का काम तो करना ही था, उदासी हो या खुशहाली! और आँख की ओट जैसा एक कोस, वैसा सौ कोस। यों भी तो बरस में महीने-भर को ही आता था।

दो बरस और बीत गए। मानी के शरीर पर ऐसी सुडौल जवानी फूट रही थी कि जिसके पास से गुज़रती, वह एक नज़र देखे बिना न रह पाता। गांव के और पड़ोसी गांव के भी अधिकतर जवान सरकारी फौज में भर्ती थे; लेकिन गांवों में आदमी तो थे ही। मानी लोगों की आँखें पहचानने लगी और आँखों में देखने भी लगी। दिन-भर की हाड़-तोड़ मेहनत में ज़रा हँस लेने, मुस्करा लेने से मन हल्का हो जाता था। घर में बूढ़े-बुढ़ियों के सामने कब तक मुँह लटकाए बैठी रहे!

मानी के सास-ससुर उसे खेतों और घर के काम-काज में या पशुओं के प्रति बेपरवाही के लिए डांटते ही रहते थे। अब सास लोगों से बोलने-चालने पर भी डांटने लगी। कुछ दिन तो मानी इस डांट-फटकार को कान से पीछे डाल चुप रह गई, लेकिन जब उसके आने-जाने पर रोक-टोक लगने लगी तो मानी ने भौंहें टेढ़ी कर जवाब दिया—"घर में रहने नहीं देती हो तो बता दो! ...दो रोटियाँ ही तो खाती हूँ। मेरे लिए यहाँ क्या रखा है? ...जब आएगा, उसे जो कहना होगा, कह लेगा! ...तुम्हें भारी हो रही हूँ, तो कह दो; मेरे भी हाथ-पांव चलते हैं ...दुनिया बहुत पड़ी है।"

इस पर भी जब ससुर ने धमकाया तो सुबह पशुओं के लिए घास काटने जाकर मानी रात को भी घर न लौटी। ससुर उसे खुशामद कर पड़ोस के गांव से लौटा लाया। बूढ़ा बदनामी से डर गया और सोचा—बेटा तो लाम पर गया है, यह भी चल दे तो पीछे खेती का काम कौन निभाएगा? घर में कोई बच्चे भी नहीं कि गोरू ही रखा लेता। पानी, ईंधन और पशुओं के लिए घास-पात की मदद से भी जाएं।

चार बरस बाद लाम खत्म हुई। कुछ सिपाही लौटे और कुछ नहीं लौटे। हरसिंह नहीं लौटा, लेकिन उसकी तनख्वाह बराबर मिलती रही। खबर मिली कि वह लाम में जख्मी हो गया था; अस्पताल में है। चंगा होकर आएगा।

इसी बीच मानी के ससुर के पेट में मरोड़ उठी और वह चल बसा। बुढ़िया बेचारी हलियों से हल जुतवाकर बहू के साथ खेती निभा रही थी। मानी का मन नहीं लगता था। शरीर थकावट में बिखरा-बिखरा जाता था। वह मन को मारती, परन्तु पड़ोसी, खासकर

जुहार, बेचैन कर देते...वह बेबस हो जाती।

मानी फिर पड़ोस के गांव चली गई। जुहार उसे ढांटी (घरवाली) बैठाने को तैयार था परन्तु मानी की सास ने जाकर पट्टी के रंगरूटी-हवलदार के सामने दुहाई दी कि उसका बेटा सरकार की नौकरी में खून बहा रहा है और लोग उसकी बहू को भगा ले गए। सरकार हमारा इतना भी खयाल नहीं करेगी? रंगरूटी-हवलदार को भी पसन्द नहीं था कि जुहार अकेला मानी को संभालकर बैठ जाए। हवलदार ने जुहार को धमका दिया। अब मानी से हँसने-खेलने को तो बहुत लोग तैयार थे लेकिन उसे अपने यहाँ बसा लेने का साहस किसी को न था।

हरसिंह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए महायुद्ध में लड़ता हुआ लगभग युद्ध समाप्त होने के समय बुरी तरह से जख्मी हो गया था। उसकी कमर के आस-पास लगनेवाले ज़ख्म बहुत पेचीदा थे। विषैली गैस का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य पर गहरा पड़ा था। प्रायः डेढ़ बरस तक फौजी अस्पताल में उसका इलाज होता रहा। वह चलने-फिरने के लायक हो गया परन्तु मर्द नहीं रहा। अंग्रेज़ सरकार ने उसकी वफादारी और युद्ध में ज़ख्मों से बेकार हो जाने के कारण उसे आधी नौकरी में ही पूरी पेन्शन देकर छुट्टी दे दी।

हरसिंह पूरे साढ़े चार बरस बाद गांव लौटा। लौटकर देखा, उसका बूढ़ा बाप नहीं रहा था। घर में उसकी मां, बहू और उसका एक लड़का मौजूद था। अपनी अनुपस्थिति में हो गया लड़का देख हरसिंह क्रोध से झल्ला उठा। उसने सोचा, लड़का उसका होता तो चार बरस से ज़्यादा का होता। बच्चा था केवल दो बरस का। हरसिंह की मां ने माथे पर हाथ मारकर कहा—"...तो मैं क्या करती? ...मैं ही जानती हूँ जैसे इस चुड़ैल को नथियाकर रोके रखा। अब वह सब जाने दे! तू भी तो ऐसे वक्त चला गया...। उसकी जवानी का अन्धड़ था। कौन नहीं जानता, बरसात की पहली आंधी में पेड़ गिरा ही करते हैं। अब ढंग से निभा! लड़का है तो जवान भी होगा। तेरा ही है...।"

हरसिंह ज्यों-ज्यों इस बारे में सोचता, उसके सिर में खून चढ़ता जाता। उसका व्यवहार मानी से ऐसा था जैसे जेलर का अपराधी से होता है। मानी सिर झुकाए चुप रह जाती या रो देती। जहाँ तक बन पड़ता, वह पति की आँखों से ओझल रहकर घर या खेती के काम में उलझी रहती। कभी हरसिंह मानी पर हाथ छोड़ बैठता। मानी वह भी सह जाती, परन्तु हरसिंह का गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था। वह मानी की हर बात पर आग-बबूला हो जाता। बात-बात में बच्चे को ठोकर मार देता। मानी और तो सब सह जाती पर बेकसूर बच्चे पर मार न सह सकती।

मानी ने बच्चे को मारने पर एतराज किया। हरसिंह और भी बिगड़ उठा—"मैं अभी तुझे और तेरे इस हरामी को काटकर फेंकता हूँ...।

हरसिंह सचमुच छत की धन्नी में खोंसे हुए लकड़ी काटने के दांव की ओर लपका। मानी के शरीर से मानो सारा रक्त खिंच गया, परन्तु प्रतीक्षा कर गिड़गिड़ाने का अवसर नहीं था। अपने बच्चे को छाती से चिपटाकर वह पूरी शक्ति से भाग गई।

हरसिंह जब धन्नी से दांव खींचकर लौटा तो मानी बच्चे को लेकर भाग चुकी थी। उतना तेज़ भागकर जवान मानी को पकड़ लेना हरसिंह के सामर्थ्य में नहीं था। होंठ काटकर उसने सोचा—'भाग गई...! खैर, जब लौटेगी...!'

मानी सांझ तक नहीं लौटी। मां ने रोटी सेंक दी परन्तु हरसिंह खा नहीं सका। वह पुआल पर कम्बल बिछाकर लेटा तो दांव सिरहाने रख लिया। मानी की दुष्टता का बदला लिये बिना वह ज़िन्दा रहने को तैयार न था। जब मानी आधी रात तक भी न लौटी तो उसे

निश्चय हो गया, अब नहीं आएगी। सोचा—'जुहार के यहाँ गई होगी, जाए! मैं हरजाई को अपने यहाँ नहीं रखूंगा।'

दूसरे दिन भी मानी नहीं लौटी तो हरसिंह ने टोह ली। वह सचमुच जुहार के यहाँ गई थी। वह जुहार के यहाँ पहुँचा। जुहार और उसका भाई हाथ में दांव लेकर सामने आए और बोले—"बोल, क्या करेगा?"

हरसिंह ने कहा—"अच्छा, पंचों में फैसला होगा।"

हरसिंह ने पंचायत कराई। पंचों ने तम्बाकू और 'जाग' [1] का सत्कार पाकर फैसला किया—मानी हरसिंह की ब्याहता औरत है, जुहार मानी को ढांटी (घरवाली) रखना चाहता है तो हरसिंह की इज़्ज़त का हर्ज़ाना यानी जर-ज़ेवर की कीमत सौ रुपया दे।

हरसिंह ने भरी पंचायत में जुहार से सौ रुपया लेकर अपनी इज़्ज़त तो बचा ली पर उसके मन पर लगा घाव पूरा नहीं हुआ।...पर ज़िन्दगी तो निभानी ही थी। वह चुपचाप जानवरों और खेती का काम करने लगा। अकेले आदमी के लिए काम इतना था कि दिन-भर किए पर भी पूरा न होता। हरसिंह के लिए यही अच्छा था। बूढ़ी मां और बेटा दिन काटने लगे। वे न आपस में बोलते और न किसी दूसरे से ही।

मानी को गए तीन बरस हो चुके थे। हरसिंह ने सब तरफ से ध्यान हटाकर अपनी ज़मीन में ही आँखें गड़ा दी थीं। सरकारी कायदे से उसने अपनी ज़मीन से लगती बेनाप ज़मीन तोड़कर पांच नाली खेत और बना लिये। अपनी दोनों भैंसों का घी जमाकर बेचता रहा और तीन बरस की पेन्शन का रुपया जमा कर उसने वारिसों से भी पांच खेत और खरीद लिये।

गांव के लोग उसकी इन बातों पर हँसते—"अकेली तो जान है।...किसके लिए कर-कर के मर रहा है। चरस की चिलम के लिए पैसा भी खर्चने में जान निकलती है।" वारिसों ने भी इसी खयाल से ज़मीन सस्ती दे दी कि मुफ्त का रुपया दे रहा है तो क्यों न लें?... इसके आँख बन्द करने पर तो ज़मीन अपनी होगी। दस नहीं तो पन्द्रह बरस और जोत लेगा, फिर तो इसकी कमाई अपने ही बाल-बच्चों के हाथ आएगी।...इसका कौन है? क्या छाती पर रखकर ले जाएगा!

उसके वारिसों और गांववालों ने सुना कि हरसिंह इस उम्र में ढांटी के लिए औरत ढूंढ़ रहा है तो हैरान रह गए। जाड़े के दिनों में जब खेती, फसल और ईंधन-कटाई का काम नहीं था, हरसिंह छह-सात दिन के लिए रंगोड़ की तरफ गया है। एक महीने के बाद फिर छह-सात दिन के लिए उधर गया और सचमुच एक तेईस-चौबीस बरस की, कुछ बीमार-सी, दुबली-पतली-सी जवान ख़ूबसूरत औरत को ले आया।

गांव के लोग हैरान रह गए और हरसिंह के वारिसों के कलेजे पर तो सांप लोट गया, लेकिन क्या कर सकते थे। हरसिंह ने पंचायत में कह दिया था कि हर्ज़ाना भरके यानी जर-ज़ेवर की कीमत तारकर औरत को लाया है। लोगों ने हर्ज़ाने की रकम तीन सौ सुनी तो हैरान रह गए।

'कपकोट' के पास हरसिंह ने एक रात जिस किसान के यहाँ डेरा किया था, रात में तम्बाकू पीते हुए उसी को अपनी परेशानी कह सुनाई कि इतनी ज़मीन, गोरू और धन (भेड़-बकरी) हैं लेकिन वह पलटन में था तो उसकी घरवाली को लोग बहका ले गए। वह घर बसाने के फेर में है।

उसके यजमान (मेज़बान) किसान ने सिर पर हाथ मार अपना दुखड़ा सुनाया कि उसने अपनी लड़की, कुशली नरमा गांव के अच्छे खाते-पीते किसान को ब्याही थी। बेचारी

के दो बच्चे भी हुए पर देवता की माया से दोनों जाते रहे। उस कम्बख्त ने दूसरा ब्याह कर लिया है और उसकी लड़की को दूर गांव की अपनी ज़मीन में डाल दिया।...उसे बुरी आदतें हैं, शराब पीता है, जुआ खेलता है। कर्ज़ में 'सीगल' की अपनी ज़मीन बेच दी। कुशली को सौत के यहाँ ले गया। सौत उसे सहती नहीं। कहते हैं, अपने बच्चे खा गई; इसकी छाया मेरे बच्चों को बुरी है। एक रोज़ दोनों ने मारा। बेचारी रोती हुई आकर मायके बैठ गई...।

हरसिंह कुशली के आदमी को ज़ोर-ज़ेवर का खर्चा देकर कुशली को ढांटी बसाने के लिए तैयार हो गया। उसने बूढ़े से कहा—'तू उसके आदमी से बात कर ले, मैं खर्चा लेकर आता हूँ।"

कुशली का आदमी औरत से जान छुड़ाना चाहता था, लेकिन हर्ज़ाना माँगा, तो इतना ज़्यादा! हरसिंह ने पंचों के सामने हर्ज़ाना गिन दिया और कुशली को ले आया।

हरसिंह के यहाँ आकर कुशली पनप गई। उसके चेहरे पर भी सुर्खी आ गई। वह खुशी-खुशी घर और खेती का काम करती। हरसिंह उसे बड़ी खातिर से हाथों-हाथ रखता परन्तु उसकी गोद भरने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। गांव के जवान उससे भाभी का रिश्ता जोड़कर उच्छृंखलता दिखाते। वह होंठ दबाकर आँख फेर लेती। उसे चिढ़ाने के लिए गांव की औरतें हरसिंह की कमर में गोली लगने की बात बताकर कहतीं —"यों ही ब्याह किया है इसने तो!"

कुशली के पास एक ही जवाब था—"तो फिर तुम्हें क्या?"

उस बरस जाड़े की फसल बो देने के बाद हरसिंह अल्मोड़ा गया। वह जानता था डाक्टर लोग चीड़-फाड़ के अलावा और कुछ नहीं जानते लेकिन देशी वैद्य-हकीमों के पास जड़ी-बूटी होती है कि जो चाहें कर दें। एक 'खानदानी' वैद्यजी ने उससे इक्कीस रुपये लेकर इक्कीस पुड़िया ऐसी दवाई दे दी कि लोहा खा ले तो पच जाए और पत्थर में छेद कर दे...।

लौटकर लोगों के हँसने की परवाह न कर हरसिंह ने कुशली का बांझपन दूर करने के लिए देवता का जागरण भी करवाया। कुशली चुप रही; क्या कर सकती थी? सोचा... देवता की करनी का क्या अन्त!

जब एक बरस और निष्फल बीत गया तो हरसिंह ने कुशली को समझाया —"बालेश्वर के देवता की सबसे बड़ी मानता है। तू वहाँ जाकर दीया जला आ!"

कुशली ने उसे समझाया—"क्यों हँसी कराते हो? तुम्हारे चोट लगी है तो क्या हो सकता है?"

तुरन्त हरसिंह का इस तर्क से समाधान नहीं हुआ।...यह सब खेत-ज़मीन आखिर किसके लिए थे? वह सन्तान चाहता था। उसे सन्तान की उत्कट चिन्ता थी, जैसी महाराज दशरथ को अपना सिंहासन सूना हो जाने की आशंका से और महाराज शान्तनु को अपना वंश निर्मूल हो जाने के भय से। वह 'पुत्रेष्टि यज्ञ' कैसे न करता? उसने कुशली को समझाया—"क्या यह सब काम, मकान, गोरू, खेत, ज़मीन दूसरों के लिए छोड़ जाएंगे...?"

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर महादेव की पूजा का अपार महात्म्य होता है। हरसिंह ने कुशली को ले जाकर उसी अवसर पर दीया जलाने का निश्चय किया था परन्तु भाग्य की बात; एक विषैला कांटा हरसिंह की पिंडली में चुभ जाने के कारण उसका पांव इतना सूज गया था कि उसके लिए चलना असम्भव हो गया।

हरसिंह ने कुशली को समझाया—"देवता के यहाँ जाने का संकल्प किया है तो उसे झूठा करने से देवता का कोप होगा।...जाने क्या अनिष्ट हो जाए! तू अकेली ही जा! तू देवता की ड्योढ़ी को जा रही है तो वही रक्षा करेगा। बालेश्वर में मेला है। तू लहंगे का कपड़ा और दो-चार चीज़ गले और हाथ की भी खरीद लेना। डर किसका है? अंग्रेज़ी राज है। सड़कों पर हरदम आदमी चलते हैं। मुसाफिर दूकानों में ठहरते ही हैं। तकलीफ न करना! चाहे जितना रुपया ले जा। दस, बीस, पचास! अपना यह सब कुछ है किसके लिए? जब घर में अंधेरा है तो धन-ज़मीन का क्या?"

अकेली लम्बे सफर पर जाते कुशली का मन सहम रहा था, परन्तु जब आदमी न माना तो क्या करती? बेचारी चली। जिस राह हरसिंह के साथ नरमा से आई थी, उसी राह चली जा रही थी। कुछ दूर जाने पर अल्मोड़ा जाते स्त्री-पुरुषों का साथ हो गया और फिर मेले में जानेवाले यात्री मिलने लगे।

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर में बांझ स्त्रियाँ अंजली में दीप जलाकर मन्दिर के द्वार के सामने जल में दिन-रात, चौबीस घण्टे दीपक की ओर टकटकी लगाए खड़ी रहती हैं। इस खड़ी तपस्या से स्त्रियों के सिर में चक्कर आ जाता है। वे डगमगा जाती हैं। ठंडे पानी में पांव सुन्न हो जाने से वे गिर पड़ती हैं। तपस्या भंग हो जाने से केवल देवता का वरदान नहीं मिलता, वरन् देवता के शाप का भय रहता है, इसलिए तप करनेवाली स्त्रियों के घर की स्त्रियाँ और सम्बन्धी उन्हें कन्धों और पीठ से सहारा देने के लिए साथ खड़े रहते हैं।

कुशली बेचारी अकेली थी। उसे कौन सहारा देता! परन्तु वह आई थी देवता से सन्तान माँगने; दीया लेकर तप करने खड़ी कैसे न होती! जब और स्त्रियाँ अंजली में दीपक लेकर मन्दिर के सामने जल में खड़ी हुईं तो वह भी खड़ी हो गई।

घड़ियों पर घड़ियाँ बीतने लगीं। कुशली अंजली में दीपक लिये, लौ की ओर टकटकी लगाए खड़ी थी। आस-पास खड़ी जवान लड़कियाँ और स्त्रियाँ डगमगाने लगीं और लोग उन्हें सहारा देने लगे। कोई-कोई रोने और चिल्लाने भी लगी, परन्तु उनके सम्बन्धी उन्हें थामे रहे। कुशली को सहारा देनेवाला कोई न था। वह पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रही। आधी रात बाद उसे जान पड़ने लगा कि उसकी पिंडलियाँ बरफ के पैने फलों से कटी जा रही हैं। वह तना कटकर गिर जानेवाले पेड़ की तरह गिर पड़ेगी। उसने अपने दांत दबा लिये, वह नहीं गिरेगी। उसे अनुभव हुआ, उसका शरीर हिल रहा है। उसने निश्चय किया, वह डिगेगी नहीं। कुशली को मालूम हुआ—सामने का मन्दिर हिलने लगा, हिलकर कबूतर की तरह तालाब के चारों ओर उड़ने लगा, पहाड़ भी झूले की चरखियों की तरह घूमने लगे, परन्तु वह कहती रही—"नहीं गिरूंगी, नहीं गिरूंगी..." सचमुच गिरने लगी तो उसने सहायता के लिए पुकारा, परन्तु होंठ खुल नहीं पाए। उसे अपनी अंजली का दीपक दिखाई नहीं दे रहा था। आँखों के सामने बादल छा गए थे...वह गई! ...फिर मालूम हुआ कि थम गई। किसी ने उसे थाम लिया; उसे जान पड़ा, देवता ने उसे थाम लिया।

जब ज़ोर-ज़ोर से घंटे-घड़ियाल और शंख बजने लगे तो उसे मालूम हुआ कि उसकी अंजली से दीपक हट गया। कोई उसे घसीटकर जल के बाहर ले जा रहा है, कोई उसे थामे हुए है। वह ज़मीन पर बैठा दी गई। कोई ज़ोर-ज़ोर से उसके पांव और पिंडलियों को मल रहा है। वह अनुभव कर रही थी, परन्तु उसके न हाथ हिल सकते थे और न होंठ।

कुशली के कानों में सुनाई दिया—"ले चाय पी ले।" गरम-गरम चाय उसके होंठों से लगी और जीभ तक बह गई। गले में पहुँचने पर गले ने घूँट भर लिया। तब उसके होंठ और

घूंट भर सके।

कुशली को दिखाई देने लगा तो जाना कि कोई आदमी उसका सिर मल रहा है, कभी उसकी पिंडलियों को मलने लगता है। वह सिमट गई। मुँह से बोले बिना उसने आदमी के हाथ हटा दिए।

आदमी हँस दिया और बोला—"थाम नहीं लेता तो गिर नहीं पड़ती।"

कुशली ने अधखुली आँखों से उसकी ओर देखकर आँखें झुका लीं; मानो कह रही हो—'ठीक कहता है, तूने बड़ी दया की।'

सूर्य की किरणें ज़मीन पर फैल गई थीं। कुशली को इन किरणों से आराम मिल रहा था। वह अपनी पीठ किरणों की ओर कर लेटी रही।

वह आदमी अपना कम्बल वहीं छोड़ उठकर कुछ दूर गया और लौटा तो पत्ते पर गरम जलेबी लिये था। बोला—"ले, यह खा ले। जिस्म में गरमी आ जाएगी।"

कुशली धूप में मन्दिर के हाते की दीवार से पीठ लगा बैठ गई और जलेबी खाने लगी। अब सुध आने पर कुशली ने उसे पहचाना...पिछले दो पड़ाव से यह आदमी यात्रियों में उसके साथ ही था। कुशली को अकेले देखकर उसने पूछा था—"तू इतनी दूर से अकेली कैसे आई?"

उस समय कुशली ने जवाब दिया था—"ऐसे ही!...तुझे क्या?" परन्तु अब वह बात करने लगा तो कुशली सब कुछ बताती गई।

दोपहर तक कुशली की तबीयत ठीक हो गई तो उस आदमी ने कहा—"ज़रा उठ, चल मेला देखें।"

कोई औरत अकेली नहीं घूम रही थी। कुशली भी उस आदमी के साथ घूमने लगी। उसे देवता की पूजा ठीक से हो जाने का सन्तोष था। उसने लहंगे का कपड़ा खरीदा, गिलट के खंडुए और पीतल का मुलम्माचढ़ा गुलबन्द भी। वह आदमी रखवाली में उसी के साथ बना रहा कि कोई उसे ठग न ले, जैसे वह उसी का आदमी हो। कुशली को झेंप मालूम होती पर अच्छा भी लगता, अकेले भी तो अच्छा नहीं लगता।

रात गए तक मेला होता रहा। जगह-जगह गैस जल रहे थे। कुशली को जान पड़ रहा था कि दिन से ज़्यादा और अच्छी रोशनी हो रही है। उस आदमी ने कुशली को सेव, पूरियाँ और मिठाई खिलाईं। ऐसा तमाशा और मज़ा कुशली ने कभी नहीं देखा था। वह कभी थककर उस आदमी के साथ बैठ जाती और कभी घूमकर तमाशा देखने लगती।

नींद का समय आया। कुशली राह में जिन यात्रियों की भीड़ के साथ आई थी, उन्हें खोजने लगी। गनेरसिंह ने, यही उस आदमी का नाम था, कहा—"अरे, क्या ढूंढ़ती है। कौन वे तेरे सगे हैं!" चारों तरफ पेड़ों के नीचे लेटे आदमियों की ओर संकेत कर उसने कहा—"हम लोग भी ऐसे ही कहीं एक तरफ पड़ रहेंगे।"

"नहीं," कुशली ने कहा। उसे डर-सा लगा।

गनेरसिंह ने ज़िद की—"हमारी इतनी-सी बात नहीं मानेगी?" कुशली चुप रह गई तो उसने धीमे-से मज़ाक किया—"तो फिर इतनी तकलीफ करके दीया क्यों जलाया था?... देवता का वरदान खाली जाएगा?"

कुशली को लज्जा से मधुर कंपकंपी-सी आ गई। "हट्ट", उसने सिर झुका पीठ फिराकर कहा और चुप रह गई।

दूसरे दिन एक पहर दिन चढ़े वे दोनों मेले से चले तो गीत गाते लोगों की भीड़ के साथ नहीं पीछे-पीछे अलग-अलग से चल रहे थे। कुशली जानती थी, उसे मीलों चलकर

फिर हरसिंह के ही पास जाना है, लेकिन इस आदमी का साथ अच्छा लग रहा था। उसका बोल, उसकी नज़रें, उसके पसीने की गन्ध—सुहानी-सुहानी, मर्द जैसी! कुशली को ऐसा जान पड़ रहा था जैसे देवता की तपस्या से पाया वरदान उस पर छाकर उसके शरीर को बोझिल और शिथिल किए दे रहा हो। वह बोझ ऐसे ही प्यारा लग रहा था जैसे भारी गहनों का बोझ हो। वह बैठने की जगह देख बार-बार बैठ जाती। वह इतनी शिथिलता से चली कि बड़ी कठिनता से वे एक ही पड़ाव पार कर सके।

अगले दिन गनेरसिंह ने अधिकार के स्वर में कहा—"अब तू दानपुर की बीहड़ पहाड़ियों में कहाँ जाएगी? मेरे घर चल। मेरी सैणी (घरवाली) पिछले साल डेढ़ बरस का लड़का छोड़कर मर गई है। उसे भी पालना और अपने पेट को भी! ...मेरी पच्चीस नाली ज़मीन है, भैंसें हैं, गाय है, बैल है। तू मुझे देवता ने दी है। चलकर मेरा घर बसा। ...मैं तुझे नहीं जाने दूँगा।"

कुशली रो पड़ी परन्तु इस रोने में अभिमान और सुख था। फिर उदास होकर बोली—"नहीं, मैं तो जाऊँगी। वो भला आदमी है! ...गम करेगा। उसने मेरी ढांटी के तीन सौ दिए हैं।"

गनेरसिंह नहीं माना—"वो क्या तेरा आदमी—? तेरा आदमी तो मैं हूँ। मुझे गम नहीं लगेगा? मैं तेरी ढांटी का हर्ज़ाना भर दूंगा, चाहे जितनी ज़मीन बेच दूं।" उसने कुशली को बाँहों में कस लिया और बोला, "बोल, मेरा घर उजाड़ेगी? ... मेरी नहीं है तू?"

कुशली बोल नहीं पाई, चुप रह गई। उसे हरसिंह का बहुत खयाल था, पर गनेरसिंह की जिद से अभिमान अनुभव हो रहा था। वह उसके साथ चली जा रही थी। दिल कहता था, दानपुर चल; पांव चले जा रहे थे गनेरसिंह के गांव की ओर।

बारह दिन बीत गए और कुशली बालेश्वर से नहीं लौटी तो हरसिंह को चिन्ता होने लगी। पन्द्रह दिन भी बीत गए तो वह परेशान हो गया। मन को समझाया—'राह में मांदी ही पड़ गई हो; दो-चार दिन में आती होगी।' उसे रात-रात-भर नींद न आती। सोचता, 'क्या हो गया उसे, कहाँ चली गई? यहाँ ही लोग उसे तकते रहते थे। थी तो बड़ी भली!... आखिर है औरत की जात!'

हरसिंह को निश्चय हो गया कि कुशली चली गई सिर्फ औरत नहीं, उसका देवता से पाया उत्तराधिकारी लड़का भी चला गया। उसे ज़ख्मी होने के कारण अपने शारीरिक असामर्थ्य का भी खयाल आता परन्तु फिर अपने अधिकार की बात सोचता—'है तो मेरी औरत!' उसे यह भी पछतावा हुआ कि उसने भरी गोद मानी को घर से क्यों निकाल दिया था। आज उसका लड़का कितना बड़ा हो गया है। गोरू चराता कितना अच्छा लगता है! उस लड़के को देखकर हरसिंह के मन में स्नेह उमड़ने लगता। पर उसकी बात करके अपनी हँसी कराने से क्या लाभ था?

हरसिंह का पांव अब ठीक हो गया था। वह कुशली का पता लगाने बालेश्वर की ओर चल दिया। पन्द्रह दिन बाद लौटा तो अकेला, चेहरे पर गहरी थकान और परेशानी लिये। खेतों में फसल तैयार हो रही थी, इसलिए बहुत दिन के लिए घर नहीं छोड़ सकता था। उसकी बूढ़ी मां के हाथ-गोड़ अब कठिनता से चलते थे। वह दस-पन्द्रह मील के चक्कर में घूमकर पता लेता रहा। जेठ में मंडुआ बो देने के बाद उसने जानवरों की रखवाली बुढ़िया के सिर छोड़ी और रंगोड़ की ओर चालीस मील का चक्कर लगा आया, पर निष्फल।

उसके गांववालों और वारिसदारों ने समझाया कि जो औरत तेरा घर नहीं बसाती,

उसके पीछे तू क्यों परेशान है? हाँ, इस बात से सब सहमत थे कि कुशली को जो रखे, वह हरसिंह का हर्ज़ाना भरे परन्तु मालूम तो हो कि बालेश्वर से कुशली को कौन, कहाँ ले गया? अगर अल्मोड़ा-रानीखेत की राह हलद्वानी पार कर देश में उतर गई तो फिर क्या पता चलता है! शहर के बीहड़, गुंजानों में कहीं आदमी की गिनती हो सकती है? या उसके ठौर-ठिकाने का पता लग सकता है? लेकिन हरसिंह हाथ-पर-हाथ रख बैठने के लिए तैयार नहीं था। उसके वारिस निश्शंक थे कि उसके औलाद हो नहीं सकती, इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए कुशली का पता लगाने के लिए तैयार हो गए।

सवा बरस बीत चुका था कुशली को गए। पड़ोस के गांव 'सौवट' का ब्राह्मण कृपादत्त पिथौरागढ़ किसी गवाही में गया था। उसने लौटकर हरसिंह को खबर दी कि मैं कटेरा गाँव के पड़ोस से गुज़र रहा था, तो बाट में कुशली घास का बोझ लिये मिली थी। मैंने पूछा—"कैसे चली आई?" पहले चुप रह गई फिर आँखों में आँसू भर बोली—"जब तक वहाँ थी तो भली थी, अब आ गई तो आ ही गई।" तुम्हारे लिए कहती थी—"आदमी तो बेचारा भला है परन्तु सब जानते हैं कि अंग-भंग है।"

मैंने कहा कि हरसिंह का हर्ज़ाना तो मिलना चाहिए, तो बोली—"जो मुझे लाया है, वह हर्ज़ाना भरेगा क्यों नहीं? नहीं होगा, ज़मीन बेचकर भरेगा। अब मैं क्या करूँ?" उसकी गोद में लड़का भी है। उसके आदमी का नाम-ठिकाना सब पता ले आया हूँ। अदालत में हर्ज़ाने का दावा कर दे। औरत का अब क्या है। वहाँ बस गई। उस आदमी से उसका लड़का भी है। अब उसे गनेरसिंह की ही औरत समझ, पर तेरा हर्ज़ाना तो मिलना चाहिए। तीन सौ कम भी तो नहीं होता।

हरसिंह ने सब बात ध्यान से सुनकर कहा—"देखूंगा महाराज!"

फसल का मौका था इसलिए हरसिंह चुप रहा। लोगों ने समझा, मन मार गया परन्तु हरसिंह माना नहीं था। उसने अवसर देखकर अपने गांव के तीन-चार आदमियों को लिया और कटेर पहुँचा।

गनेरसिंह ने कहा—"भाई, मैं झगड़ा नहीं करता। तू अंग-भंग है। औरत अपनी खुशी से मेरे साथ आई है। पंचायत जो कहे, हर्ज़ाना भरने को तैयार हूँ।"

हरसिंह ने सिर हिलाकर कहा—"मैं हज़ार रुपया भी हर्ज़ाना लेने को तैयार नहीं। मैं तो अपना लड़का लेने आया हूँ।"

"तेरा लड़का?" गनेरसिंह विस्मय से होंठ और आँखें फैलाए रह गया।

आखिर पंचायत बैठी। हरसिंह बच्चे को माँग रहा था।

पंचों ने कहा—"बच्चा तुम्हें कैसे दिला दें? औरत के तेरे घर से जाने के बरस भर बाद लड़का हुआ है। लड़का तेरा कैसे होगा?...औरत तेरे साथ जाने को तैयार नहीं। कोई भैंस-बकरी तो है नहीं, जो बाँधकर भेज दें! हाँ, तू हर्ज़ाने का हकदार है।"

हरसिंह ने पंचों से न्याय माँगा—"पंचो, जब तक मेरा हर्ज़ाना नहीं मिला, औरत मेरी रही। हर्ज़ाना मिलने के बाद लड़का होता, तो मेरा नहीं था।"

पंचों ने कहा—"औरत तेरी थी, पर तेरे घर में तो नहीं थी।"

हरसिंह ने फिर दुहाई दी। उसने ज़मीन पर लकीर खींचकर कहा—"पंचो न्याय करो! यह ज़मीन लकीर से इस पार मेरी और लकीर से उस पार गनेरसिंह की। मेरे खेत की ककड़ी की बेल फैलकर गनेरसिंह के खेत में चली गई। बोलो पंचो, ककड़ी किसकी मानोगे?... जिसकी बेल उसकी ककड़ी...जिसकी औरत उसका बच्चा! हर्जाना देने से पहले औरत को गनेरसिंह की ढांटी मानते हो, तो बच्चा उसका! मैं अपना लड़का लूँगा।

लड़के की मां आती है, मेरे सिर-आँखों पर आए; नहीं आती तो उसका मन! मैं हर्ज़ाने का एक पैसा माँगूँ तो मेरे लिए गाय का खून! पंचो, यह परमेश्वर का न्याय है, नहीं तो अंग्रेज़ बहादुर की अदालत है। पंच न्याय नहीं देंगे तो हरसिंह अंग्रेज़ की अदालत में जाएगा। मेरा घर-बार है, ज़मीन-जायदाद है, मैं लड़के के बिना मरूंगा?...मुझे पानी की अंजलि कौन देगा?"

पंचों ने एक-दूसरे की ओर देखा और स्वीकार कर लिया कि जब औरत हरसिंह की थी तो लड़का भी हरसिंह का है।

कुशली एक ओर बैठी थी। पंचों का फैसला सुना तो बच्चे को छाती से चिपटाकर चीख उठी—"मैं अपना बच्चा किसी को नहीं दूंगी।"

हरसिंह के स्वर में क्रोध नहीं था, धमकी नहीं थी, पंचायत का न्याय जीत लेने का अभिमान भी नहीं था। मुलायम शब्दों में उसने कुशली को समझाया, "अरी भागवान, तेरा बच्चा कौन छीनता है तुझसे? अपने घर चल। तू उस घर की मालकिन है!"

हरसिंह अपने एक बरस के उत्तराधिकारी को बड़े लाड़ और सन्तोष से गोद में उठाए दानपुर की ओर चला जा रहा था। कुशली उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी, जैसे नई ब्याई गैया अपना बछड़ा उठाए ग्वाले के पीछे चली जाती है।

---

1 . स्थानीय चावल की शराब।

तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ

"अच्छा, हमारा एक फोटो बना दीजिए।" माया ने सकुचाते हुए कह डाला।

निगम को बहुत अच्छा लगा—"वाह ज़रूर।" उसने आश्वासन दिया।

माया से इतनी बात कहला सकने में निगम का लगभग डेढ़ मास का समय और प्रयत्न लगा था। इस प्रयत्न का इतिहास बहुत रोचक न होने पर भी उसका महत्त्व है।

निगम और माया दोनों ही क्षय रोग की ऐसी आरम्भिक अवस्था में थे, जब सावधानी, उपचार और पथ्य से रोग का इलाज निश्चित रूप से हो सकता था।

रोग हो जाने की आशंका का कारण दोनों के लिए अलग-अलग था। माया को उसके पति ने दमे से पीड़ित, आयु से थके हुए, किसी भी काम के लिए अयोग्य, सम्बन्ध में अपने बड़े भाई की संरक्षता में इलाज के लिए भेजा था। इलाज के लिए दोनों एक ही जगह, भुवाली में थे। एक ही बंगले का आधा-आधा भाग लेकर रह रहे थे। इलाज एक ही डाक्टर का और लगभग एक ही जैसा था।

क्षय का रोग जितना भयंकर है, इलाज उसका उतना ही सीधा और सरल है। पूर्ण विश्राम, अच्छा भोजन और प्रसन्न रहना। डाक्टर साहब अपने रोगियों को स्पष्ट शब्दों में कहते रहते थे—"डाक्टर जादू से आपका इलाज नहीं कर सकता। इलाज आपके हाथ में है। डाक्टर केवल सुझाव देकर और दवा बता कर सहायता कर सकता है।"

इसी स्पष्टवादिता के सिलसिले में डाक्टर साहब माया को सहानुभूति भरी डांट भी सुनाते रहते थे। डाक्टर हर सातवें दिन अपने मरीज को तौलकर उसका वज़न घटने-बढ़ने से उसके स्वास्थ्य में सुधार का अनुभव करते थे। माया के वजन में कभी तोला-भर भी बढ़ती न पाकर और अपने नुस्खे असफल होते देखकर वे परेशानी में माया के जेठ से पूछते—"क्या बात है?...यह क्या खाती है? कितना खाती है?...कभी घूमने जाती है या नहीं? कभी हँसती-बोलती है?" वगैरह-वगैरह।

माया के जेठ मुंशी जी दमे और वृद्धावस्था की दुर्बलता के कारण रेंगते से स्वर में सब बातों के लिए असन्तोषजनक उत्तर देकर अपने समझाने का कुछ असर न होने की शिकायत कर देते।

डाक्टर जिम्मेदारी के अधिकार से रोगी की डांटते—"क्या गुम-सुम बनी बैठी रहती हैं आप? इलाज नहीं कराना है तो आगरा लौट जाइए! ...हमारी बदनामी कराने से आपका क्या फायदा? इन्हें देखिए!" डाक्टर साहब निगम की ओर संकेत करते, "पन्द्रह दिन में तीन पौण्ड वजन बढ़ गया। आप डेढ़ महीने से यों ही पड़ी हैं।...अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, लेकिन आपका यही ढंग रहा तो रोग बढ़ जाएगा।"

लौटते समय डाक्टर साहब माया के जेठ, उनके पड़ोसी निगम और निगम की मां 'चाची' सबसे अपील कर जाते—"आप लोग इन्हें समझाइए...कुछ खिलाइए-पिलाइए

और हँसाइए!"

निगम साधारणतः स्वस्थ, परिश्रमी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति है। वह चित्रकार है। पिछले वर्ष दिसम्बर में वह अमरीका में होनेवाली एक प्रदर्शनी में भेजने के लिए कुछ चित्र बना रहा था। उसे इनफ्लूएंजा हो गया। बीमारी में विश्राम न करने के कारण उसका बुखार टिक गया। डाक्टरों के परामर्श से इलाज में जलवायु की सहायता लेने के लिए वह भुवाली चला गया। उसे तुरन्त ही लाभ हुआ। स्वस्थ हो जाने पर वह 'जरा और मृत्यु पर जीवन की विजय' का एक चित्र बनाना चाहता था। इसी भावना को वह अपने चारों ओर अनुभव कर रहा था। स्वास्थ्य और जीवन के प्रति माया के निरुत्साह से उसके मन में दर्द-सा होता था।

माया के गुम-सुम और चुप रहने पर भी निगम को 'चाची' से यह मालूम हो गया था कि माया आगरे के एक समृद्ध कायस्थ वकील की तीसरी पत्नी है। चौबीस-पच्चीस वर्ष की आयु में भी उसकी गोद सूनी रहने पर भी वह कानूनन वकील साहब के पांच बच्चों की मां है। माया के विवाह से पहले वकील साहब की पहली पत्नी दो लड़कियाँ, एक लड़का और दूसरी पत्नी दो लड़कियाँ छोड़कर एक दूसरी के बाद क्षय रोग से चल बसी थीं। जब वकील साहब की आयु प्रायः छियालीस वर्ष की थी, उन्होंने गृहस्थी संभालने और अपना अकेलापन दूर करने के लिए माया को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया था। माया के बीस वर्ष की हो जाने तक भी उसके पिता को लड़की के लिए कोई अच्छा वर न मिला था। शायद वे वकील साहब की दूसरी पत्नी की मृत्यु की ही प्रतीक्षा कर रहे थे।

माया अपने जीवन का क्या भवितव्य समझ बैठी है, यह अनुमान करना निगम के लिए कठिन न था। उसका मन सहानुभूति से माया की ओर झुक गया। भरे यौवन का यों बरबाद हो जाना उसे अन्याय जान पड़ रहा था।

माया के लिए 'भरे यौवन' शब्द का प्रयोग केवल सहानुभूति से ही किया जा सकता था। आयु चौबीस-पच्चीस की ही थी। शरीर भी छरहरा और ढांचा सुडौल था। सलोने चेहरे पर नमक भी था परन्तु आंसुओं की नमी से सीलकर बहा जा रहा था। आँखों के नीचे और गालों में गड्ढे पड़े हुए थे, जैसे किसी अच्छे-खासे बने चित्र पर मैला पानी पड़ जाने से रंग बिगड़ जाए और केवल बाह्याकृति ही बची रहे।

निगम ने जिस नेकनीयत और मन की सफाई से माया की ओर आत्मीयता का आक्रमण किया था, उसकी उपेक्षा और विरोध दोनों ही सम्भव न थे। हाथ में ताश की गड्डी फरफराते हुए वह चाची से घर और चौके का काम छुड़वाकर उन्हें ज़बर्दस्ती बरामदे में बुला लेता और फिर माया के जेठ को ललकारता 'आइए मुंशी जी, दो-दो हाथ हो जाएँ।' इसके साथ ही माया से भी खेल में शामिल होने का अनुरोध करता। बिरादरी के नाते वह माया को निधड़क 'सक्सेना भाभी' कहकर सम्बोधित करता।

उस महफिल में त्रुप का ही खेल चलता। निगम बड़े जोश से 'वह मारा पापड़वाले को!' चिल्लाकर गलत पत्ता चल देता और फिर अपनी भूल पर विस्मय में सिर खुजलाते हुए 'अरे!' पुकारकर सबको हँसा देता।

माया के रक्तहीन होंठ मुस्कराए बिना न रह सकते।

निगम चुनौती देता—'आप हँसती हैं? अच्छा अबकी लीजिए!'

पांच-सात मिनट में फिर कोई ज़बर्दस्त दांव दिखाई पड़ जाता। पुकार उठता—'यह देखिए खरा खेल फरक्काबादी' और फिर वैसी ही भूल हो जाती।

ताश के खेल के अतिरिक्त निगम की आपबीती, हँसोड़ कहानियों का अक्षय भंडार भी माया को विस्मय से सुनने के लिए विवश कर देता था। माया की उदासी कुछ पल के

लिए दूर हो जाती। वह कभी माया को कोई कहानी की पुस्तक, पत्रिका या चुने हुए चित्रों का अलबम ही दिल बहलाने के लिए दे देता। निगम ने इन चित्रों को अपने व्यवसाय में उपयोग के लिए चुना था। उनमें अनेक देशी-विदेशी अर्धनग्न या नग्न चित्र भी थे। इनका उपयोग निगम अपने चित्रों में अंगों के अनुपात ठीक बना सकने के लिए करता था। माया को अलबम देते समय शिष्टाचार के विचार से ऐसे चित्र निकाल लेता था।

निगम की सहृदयता के प्रभाव से माया की चुप्पी कुछ-कुछ हिलने लगी थी, पर वैसे ही जैसे बहुत दिनों तक उपयोग में न आनेवाले तालाब पर जमी मोटी काई भी वायु के झोंके से फट तो जाती है परन्तु तुरन्त ही मिल भी जाती है। माया पुस्तकों या पत्रिकाओं को कितना पढ़ती और समझती थी, इस विषय की कभी कोई चर्चा न होती थी। हाँ, जब निगम बंगले के आंगन से दिखाई देनेवाले दृश्यों के, माया के सामने खींचे हुए फोटो माया को दिखाता, तो स्मृति की मुस्कराहट ज़रूर माया के होंठों पर आ जाती और वह दो-चार शब्दों में फोटो की प्रशंसा भी कर देती।

माया को उत्साहित करने के लिए निगम कह देता—'आप भी सीख लीजिए न फोटो बनाना।...बड़ा आसान है। कुछ करना ही थोड़े होता है। बस अच्छे दृश्य के सामने कैमरा खोल देना और बन्द कर देना; तस्वीर तो आपसे-आप बन जाती है।"

"क्या करूँगी?...मुझे क्या करना है?" माया टाल देती। निगम उसे जीवन के प्रति उदास न होने की नसीहत देने लगता। उस बात से जान बचाने के लिए वह कोई दूसरी बात करने लगती, "यह मेरा नौकर बाज़ार जाता है तो वहीं सो रहता है। देखूं, शायद आ गया हो।"

ऐसे ही एक दिन निगम माया को नये बनाए फोटो दिखा रहा था और समझा रहा था —"आदमी कुछ करता रहता है तो उदासी नहीं घेरती।"

माया कह बैठी—"अच्छा, हमारा एक फोटो बना दीजिए।"

"ज़रूर!" निगम ने उत्साह से उत्तर दिया, "जब कहिए!"

"अरे जब हो; चाहे अभी बना दीजिए।"

अवसर की बात, उस समय निगम के पास फिल्म समाप्त हो चुकी थी। फिल्म समाप्त हो जाने का कारण बताकर उसने विश्वास दिलाया कि किसी दिन वह खुद या उसका नौकर करमसिंह नैनीताल जाएगा तो फिल्म आ जाएगी, वह सबसे पहले माया का फोटो बना देगा।

माया का फोटो बना देने की बात होने के चौथे या पांचवें दिन करमसिंह कुछ सामान लेने नैनीताल गया था। लगभग दिन डूबने के समय लौटकर करमसिंह कुछ सामान और बचे हुए पैसे निगम को सहेज रहा था।

माया ने आकर पूछ लिया—"भाई साहब, फिल्म मंगवा लिया है।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं!" फिल्म की बाबत भूल जाने की बात निगम स्वीकार न सका, "क्यों, क्या फोटो अभी खिंचवाइएगा?" उसने उत्साह प्रकट किया।

"अभी बना दीजिए।" माया को भी ऐतराज़ न था।

"मुंशी जी को बुला लें?" निगम ने सोचकर कहा।

"वे तो बाज़ार गए हैं, देर में लौटेंगे!"

"आप भी तो कपड़े बदलेंगी, तब तक रोशनी कम हो जाएगी।" निगम ने दूसरा बहाना सोचा।

"कपड़ों से क्या है?" उपेक्षा से माया ने उत्तर दिया, "कपड़े बदलकर क्या करना है?

ठीक तो हैं?"

कोई और बहाना सोचते हुए निगम कैमरे में फिल्म लगा लाने के लिए भीतर चला गया। फोटो के सामान की अलमारी के सामने खड़ा सोच रहा था, माया का मन रखने के लिए बोले हुए झूठ को कैसे निबाहे! उसकी उंगलियाँ उन चित्रों को पलट रही थीं जिन्हें उसने एलबम माया को देने से पहले निकाल लिया था। मन में एक बात कौंधकर उसके होंठों पर मुस्कान आ गई। कैमरे में फिल्म की जगह पर समा सकने लायक एक फोटो उसने चुन लिया।

दो मिनट के बाद निगम कैमरे को तैयार हालत में लिये बाहर आया—"लीजिए, कैमरा तो तैयार है।" उसने माया को सम्बोधित किया।

"अच्छा।' माया भी तैयार थी।

"साड़ी नहीं बदली आपने?" निगम ने पूछा।

"ठीक है। क्या ज़रूरत है?"

"आप कहती हैं न, साड़ी की तस्वीर थोड़े ही बनवानी है।" निगम मुस्कराया।

"हाँ, साड़ी से क्या होगा? जैसी हूँ वैसी ही रहूँगी।"

"आपके बैठने के लिए कुर्सी लाऊँ?"

"न, ऐसे ही ठीक है।"

"जैसे मैं कहूँ बैठ जाइए।"

"अच्छा।"

"बरामदे में सामने से रोशनी आ रही है। यहाँ फर्श पर बैठ जाइए। दाईं बाँह की टेक ले लीजिए।...बाईं बाँह को सामने ऐसे रहने दीजिए।...गर्दन ज़रा ऊँची कीजिए...हाँ, सिर उधर कर लीजिए जैसे उस पेड़ की चोटी पर देख रही हों...हाँ।"

माया निगम के निर्देशानुसार बैठ गई।

निगम ने चेतावनी दी—"अब आधा मिनट बिल्कुल हिलिएगा नहीं।" वह स्वयं दो गज़ परे फर्श पर उकड़ूं बैठकर कैमरे को माया की ओर साध रहा था। कैमरे की आँख खुलने का और बन्द होने का 'टिक' शब्द हुआ।

"थैंक्यू, बस हो गया।" निगम ने हँसकर कहा।

"जाने कैसी बनेगी!" माया फर्श से उठती हुई बोली।

"अभी मालूम हो जाएगा।" निगम ने तटस्थता से उत्तर दिया।

"अभी कैसे?" माया ने विस्मय प्रकट किया, "एक-दो दिन तो लगते हैं बनाने में।"

"हाँ, ऐसे कैमरे और फिल्म भी होते हैं।" निगम ने स्वीकार किया और बताया, "यह दूसरी तरह का कैमरा है।"

"यह कैसा है?" माया का विस्मय बढ़ा।

"इस कैमरे से फोटो पांच मिनट में आप ही तैयार हो जाती है।" निगम ने समझाया और अपनी कलाई पर घड़ी की ओर देखकर बोला, "अभी दो मिनट ही हुए हैं।"

शेष तीन मिनट माया उत्सुकता से प्रतीक्षा करती रही। दो मिनट और गुज़र जाने पर निगम ने ठिठककर कहा—"आधा मिनट और ठहर जाना अच्छा है। जल्दी करने से कभी-कभी फोटो को हवा लग जाती है।" माया उत्सुकता से अपलक कैमरे की ओर देखती रही।

निगम कैमरे को ऐसी बेबाकी से माया की आँखों के सामने खोलने लगा कि सन्देह का कोई अवसर न रहे। जैसे जादूगर दर्शकों के सामने झाड़कर दिखा देने के बाद लपेट

लिये रूमाल में से अद्‌भुत वस्तु निकालते समय आहिस्ते-आहिस्ते, दिखा-दिखाकर तह खोलता है। कैमरे का पिछला हिस्सा खुला। फोटो की सफेद पीठ दिखाई दी। निगम ने फोटो को स्वयं देखे बिना माया की ओर बढ़ा दिया।

माया का हाथ उत्सुकता से फोटो की ओर बढ़ गया था; परन्तु फोटो आँखों के सामने आते ही उसके हाथ से गिर गई, आँखें झपक गईं और शरीर में थोड़ा-बहुत जो भी रक्त था, पीले चेहरे पर खिंच आया।

"क्यों?" भोले स्वर में निगम ने विस्मय प्रकट किया।

"यह हमारा फोटो है?" माया आँखें न उठा सकी परन्तु होंठों पर आई मुस्कान भी छिपी न रही।

निगम ने आरोप का विरोध किया—"आपके सामने ही तो फोटो लेकर कैमरा खोला है।"

"इसमें हमारे कपड़े कहाँ हैं?" तनिक आँख उठाकर माया ने साहस किया। फोटो में माया की तरह छरहरे शरीर परन्तु बहुत सुन्दर अनुपात के अवयव की निरावरण युवती; दाईं बाँह का सहारा लिये चट्टान पर बैठी कहीं दूर देख रही थी।

"आपने ही तो कहा था", निगम ने सफाई दी, "कि कपड़ों की फोटो थोड़े ही खिंचवानी है।"

"ऐसा कहीं होता है?" माया ने झेंप में अविश्वास प्रकट किया और उसका चेहरा गम्भीर हो गया।

"ओहो!" निगम ने परेशानी प्रकट की, "आपने क्या एक्स-रे नहीं देखा कभी! ऐसा भी कैमरा होता है जिसमें शरीर के भीतर की हड्डी और नसें आ जाती हैं।" अपना कैमरा दिखाकर वह कहता गया, "इस कैमरे से कपड़ों के भीतर से शरीर की फोटो आ जाती है। आप यदि पूरे कपड़ों समेत चाहती हैं तो मैं दूसरे कैमरे से वैसी ही फोटो खींच दूँगा।"

माया ने एक बार फिर फोटो को देखने का प्रयत्न किया परन्तु देख न सकी। उसका चेहरा गम्भीर हो गया। वह उठकर अपने कमरे में चली गई।

निगम भी कैमरा और चित्र संभालकर अपने कमरे में चला आया। कुछ देर बाद वह चिन्ता में सिर झुकाए पछताने लगा, यह क्या कर बैठा! माया हँसने की अपेक्षा चिढ़ गई। ...नाराज़ हो गई। कहीं चाची से शिकायत न कर दे।...शिकायत कर सकती है या नहीं? रात में नींद आ जाने तक यही विचार निगम को विक्षिप्त किए रहा और इस परेशानी के कारण नींद भी ज़रा देर से आई।

अगले दिन निगम का पश्चात्ताप और चिन्ता बढ़ गई। माया की नाराज़गी अब साफ ही थी। प्रातः सूर्योदय के समय माया कुछ क्षण के लिए धूप में आती थी और निगम से नमस्कार और कुशल-क्षेम हो जाती थी। उस दिन माया दिखाई नहीं दी। निगम क्या करता? तीर कमान से निकल चुका था। वह केवल अपने को ही समझा सकता था कि उसकी नीयत खराब न थी। उसने तो केवल हँसी की थी। हँसी दूर तक चली गई।

पश्चात्ताप के कारण निगम स्वयं भी चुप हो गया। उसकी चुप्पी चाची से छिपी न रही। उन्होंने पूछा—"जी तो अच्छा है!"

निगम ने एक किताब में ध्यान लग जाने का बहाना कर चाची को टाल दिया, परन्तु उदासी न मिटा सका। वह किताब पढ़ने का बहाना किए दस बजे तक अपने कमरे में लेटा रहा।

कमरे के बाहर से आवाज़ आई—"सुनिए!"

आवाज़ पहचानकर निगम तड़प उठा—"आइए!"

माया दरवाज़े में आ गई। कलफ की हुई खूब महीन धोती में से पीठ पर फैले गीले केश झलक रहे थे। लज्जा से आँखों की मुस्कान छिपाते हुए बोली—"भाई साहब, हमारा फोटो दे दीजिए।"

निगम के मन से पश्चात्ताप और दुश्चिन्ता ऐसे उड़ गई जैसे फूंक मारने से आईने पर पड़ी धूल साफ हो जाती है।

"कल वाला?" जैसे याद करने की चेष्टा करते हुए उसने पूछा।

"हाँ।" माया ने हामी भरी।

"वह तो हमने अपने पास रखने के लिए बनाया है।" निगम ने गम्भीरता से विचार प्रकट किया।

"वाह, तस्वीर तो हमारी है!" माया ने अधिकार प्रकट किया।

"आपकी है? कल आप कह रही थीं कि तस्वीर आपकी नहीं है।"

"दीजिए! आपने ही तो खींची है।" माया ने आग्रह किया। उसकी आँखों में चमक थी और स्वर में कुछ मचल।

"अच्छा ले लीजिए।" निगम ने पराजय स्वीकार कर ली और तस्वीर मेज़ पर से उठाकर माया की ओर बढ़ा दी। माया ने दो-तीन सेकण्ड तक तस्वीर को तिरछी निगाहों से देखा और फिर लजाकर विरोध किया—"हमारी नहीं है तस्वीर!"

"अभी आप मान रही थीं।" निगम ने उलझन प्रकट की, "क्यों?"

"यह तो बहुत अच्छी है। हम ऐसी कहाँ हैं?" माया की आँखें झुक गईं और चेहरे पर लाली बढ़ गई।

माया के नये धुले केशों से सुगन्धित साबुन के सद्यःस्नान की सुवास आ रही थी। अपने रक्त में झनझनाहट अनुभव करके भी निगम ने कह दिया—"हैं तो!... नहीं तो तस्वीर कैसे सुन्दर होती?"

"सच कहते हैं?" माया ने निगम की आँखों में सचाई भांपने के लिए देखा।

"हाँ, बिलकुल सच।" निगम को माया की लज्जा और पुलक से अद्भुत रस मिल रहा था।

माया फिर फोटो की ओर देखती रही—"इसे फाड़ दीजिए!" आँखें चुराये उसने कहा।

"मैं तो इसे संभालकर रखूंगा!" निगम ने उत्तर दिया, "लखनऊ जाने पर याद आने पर इसे देखूंगा।"

माया ने निगम की आँखों में देखना चाहा पर देख न सकी। फोटो उसने ले लिया —"आपको फिर दे दूंगी।" फोटो को हाथ में और हाथ को धोती में छिपाए वह अपने कमरे में चली गई।

माया के चले जाने पर निगम फिर लेट गया और सोचने लगा—पांच-सात मिनट में बात कहाँ पहुँच गई!—जीवन का बिलकुल दूसरा दृश्य उसकी आँखों के सामने आ गया।

अब तक निगम और माया में जो बात होती, सभी के सामने और खूब ऊँचे स्वर में होती थी; परन्तु अब अकेले में करने लायक बात भी हो गई। असाधारण और विशेष में ही तो सुख होता है। जिसे पीने में कठिनाई हो, वही पीने की इच्छा होती है। अकेले में और दूसरों के कान की पहुँच से परे होने पर निगम कह बैठता—"वह तस्वीर आपने लौटाई नहीं?"

“हमारी तस्वीर है, हम क्यों दें? पर अच्छी थोड़े ही है!” माया होंठ बिचका देती।
“हमें तो अच्छी लगती है!”
“आप तो यों ही कहते हैं!”
“अच्छा, किसी और को दिखाकर पूछ लो।”
“धत्त!”
“क्यों?”
“शरम नहीं आती, ऐसी तस्वीर! बड़े वैसे हैं।” माया प्यार का क्रोध दिखाती।

निगम की नस-नस में बिजली दौड़ जाती। उसे माया के व्यवहार में परिवर्तन दिखाई दे रहा था। अब माया की आँखें दूसरी आँखों से बचकर निगम को ढूंढ़तीं। अवसर की खोज के लिए एक चुस्ती-सी उसमें आ गई थी। वह परिर्वतन केवल निगम को ही नहीं, चाची, मुंशीजी को भी दिखाई दे रहा था और इस परिवर्तन का अकाट्य प्रमाण था डाक्टर साहब का मरीज़ों को तोलनेवाला तराजू। तराजू ने पहले सप्ताह माया के वजन में आधा पौण्ड की बढ़ती दिखाई और दूसरे सप्ताह में एक पौण्ड। अब माया चाची के साथ निगम के साथ होते हुए भी कुछ दूर घूमने जाने लगी। घूमते समय, ताश खेलते हुए अथवा बरामदे में चहल-कदमी करते समय निगम से एक बात कर सकने और आँखें चार कर सकने के अवसर की खोज के लिए माया के मस्तिष्क और शरीर में सदा रहस्य और तत्परता बनी रहती।

जुलाई का तीसरा सप्ताह आ गया था। भुवाली निरन्तर वर्षा से भीगी रहती थी। बादल, कोहरा और धुन्ध घरों में घुस आते थे। सीलन और सर्दी से चाची जोड़ों में दर्द की शिकायत करने लगी थीं। मुंशी जी को भी दमे के दौरे अधिक आने लगे थे। बहुत-से बीमार वर्षा से घबराकर घर चले गए थे। माया और निगम को स्वास्थ्य में सुधार जान पड़ रहा था। निगम और माया के बंगले से प्रायः सौ गज़ ऊपर का बड़ा पीला बंगला और बाईं ओर के बंगले खाली हो गए।

डाक्टर की राय थी कि निगम अभी लखनऊ की गरमी में न जाए तो अच्छा ही है और माया को तो अभी रहना ही चाहिए था। उसकी अवस्था तो अभी सुधरने ही लगी थी।

आकाश में घटाटोप बादल बने रहने पर भी माया की आँखों में और चेहरे पर उत्साह के कारण स्वास्थ्य की किरणें फैली रहतीं। माया की आँखों का साहस बढ़ता जा रहा था। जब-तब निगम से ‘आँखें चार’ हो जातीं। वह भी उनकी सुखद उष्णता का अनुभव किए बिना न रहता। शरीर में एक वेग और शक्ति का सुखद अनुभव होता। अपने अस्तित्व और शक्ति के लिए माया का निमन्त्रण पाकर उसे ग्रहण करने, माया को पा लेने की अदमनीय इच्छा होती।

निगम को माया से शायद रोग की छूत लग जाने की आशंका थी। अपने को यों रोके रहने में भी सन्तोष था। जैसे तेज़ दौड़ने के घोड़े उतावले घोड़े की रास खींचकर रोके रहने में शक्ति, सुख और गर्व का अनुभव होता है। निगम और माया दोनों जीवन की शक्ति के उफान की अनुभूति से उत्साहित रहने लगे थे।

वर्षा के कारण घूमने का अवसर कम हो गया था। निगम शरीर को कुछ स्फूर्ति देने के लिए छाता लेकर बाज़ार तक हो आता। माया उसको आँखों में मुस्कराकर उलाहना देती—”आप तो अकेले ही घूम आते हैं। हमारा घूमना ही बन्द हो गया है। चाची कहीं जा नहीं पातीं।”

दिन-भर पानी बरसता रहा। माया ने चाहा कि ताश की बैठक जमे परन्तु मुंशी जी के

दमे के दौरे और 'चाची' के दर्द के कारण जम न पाई। माया ने कई बार बरामदे के चक्कर लगाए। रहा न गया तो निगम के कमरे के दरवाज़े पर जाकर पुकारा—"सुनिए!"

निगम ने स्वागत से मुस्कराकर कहा—"आइए।"

झुंझलाहट के स्वर में माया ने शिकायत की—"क्या करें भाई साहब!' कोई किताब ही दे दीजिए। बैठे-बैठे दिन नहीं कटता है।"

निगम ने पूछा—"कैसी पुस्तक चाहिए? तस्वीरों वाली!"

"धत्त, बड़े वैसे हैं आप!" निगम ने पत्रिका उठाकर दे दी। उठती अंगड़ाई को दबाकर निगम की आँखों में मुस्कराती हुई माया पत्रिका लेकर लौट गई।

माया कुछ देर बाद पत्रिका लौटाने आई।

"पढ़ने में जी नहीं लगता भाई साहब।" मुस्कराकर उसने निगम की आँखों में देखा और फिर आँखें झुकाए और बहुत गहरे दबे स्वर में बोली, "कहीं घूमने नहीं चलेंगे?"

"चलो, कहाँ चलें?" निगम ने वैसे ही स्वर में योग दिया।

"कहीं चलें; ऊपर का पीला बंगला तो अब खाली है।" माया के चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई, "आप नीचे सड़क से घूमकर चले आइए।"

निगम के शरीर का रक्त बिजली का तार छू जाने से खौल उठा। इच्छा हुई समीप खड़ी माया को बाँहों में ले ले परन्तु स्थान और औचित्य का भी खयाल आ गया। वह ठिठक गया। बोला—"अच्छा!" शरीर एक नये वेग के रोमांच का अनुभव कर रहा था।

बादल घिरे हुए थे। निगम ने छतरी हाथ में ले ली और रसोई में बैठी चाची को पुकारकर कह दिया—"ज़रा बाज़ार तक घूम आऊँ।"

निगम अपने बंगले से सड़क पर उतर गया और घूमकर ऊपर के पीले बंगले की ओर चढ़ गया। बंगले के अहातों में बरसात से अघाई लिली के फूल खूब खिले हुए थे। इससे कुछ दिन पहले बंगले में किरायेदारों के रहते समय निगम, चाची और माया शाम को कुछ दूर घूमने जाकर लौटते समय इस ओर से होकर जा चुके थे। पड़ोसियों के स्वास्थ्य के लिए शुभ कामना करके निगम यहाँ से फूल भी ले जाता था।

बंगला सूना था। बंगले के पिछवाड़े, ज़रा नीचे माली और नौकरों के लिए बनी छोटी-छोटी झोंपड़ियों से धुआं उठ रहा था। माली सन्ध्या का खाना बना रहा होगा। चढ़ाई चढ़ते समय दम फूल जाने के कारण सांस लेने के लिए खड़े होकर निगम ने घूमकर पीछे की ओर देखा कि माया आती होगी। माया के साहस भरे प्रस्ताव से उसका रोम-रोम सिहर रहा था।

पगडण्डी पर कुछ दिखाई न दिया। भीगी घास पर बादल का एक टुकड़ा मचलकर बैठ गया और नीचे कुछ दिखाई न दे रहा था। बरामदे में कुछ आहट-सी पाकर निगम ने देखा, माया सामने के बड़े कमरे के दरवाज़े में उससे पहले ही खड़ी मुस्करा रही थी। माया ने बाँह उठाकर उसे आ जाने का संकेत किया। वह आगे बढ़कर कमरे में चला गया।

एकान्त में माया के इतने निकट होने से उसका रक्त तेज़ हो गया और चेहरे पर चिनचिनाहट अनुभव होने लगी। माया का सीना भी, चढ़ाई पर तेज़ी से आने के कारण अभी तक लम्बे श्वासों से ऊपर-नीचे हो रहा था। उसके चेहरे पर ऐसी सुर्खी और सलोनापन था कि निगम देखता रह गया।

आकाश में घने बादल और धुन्ध-सी छाई रहने के कारण किवाड़ों और खिड़कियों के शीशों से केवल इतना प्रकाश आ रहा था कि शरीर की आकृति भर दिखाई दे सकती थी।

किरायेदारों के चले जाने के बाद सफेद निवाड़ से बुना खाली पलंग अंधेरे में उजला दिखाई दे रहा था और वार्निश की हुई कुर्सियाँ छाया जैसी लग रही थीं।

माया ने किवाड़ बन्द कर दिए। निगम ने एक घबराहट-सी अनुभव की; जैसे उत्साह में किसी खन्दक को मामूली समझकर कूद जाने के लिए तैयार हो जाए, पर समीप आकर खंदक की चौड़ाई से मन दहल जाए। माया उसके बिलकुल समीप आ गई थी।

माया ने हाँफते हुए पूछा—"हमारा फोटो अच्छा था? सच कहिए?" और वह जैसे चढ़ाई की थकान से खड़ी न रह सकने के कारण धम से पलंग पर बैठ गई। अंधेरे में भी निगम को उसकी आँखों में चमक और चेहरे की आग्रहपूर्ण मुस्कान बिना देखे ही दिखाई दे रही थी।

निगम का हृदय धक्-धक् कर रहा था। गले में उठ आए आवेग को निगलकर और समझाने के लिए उसने उत्तर दिया—"है तो—।"

"झूठ! अब देखिए!" पांव पलंग पर समेटते हुए और पलंग के बीच सरककर माया ने हाँफते हुए रुंधे स्वर में आग्रह किया। उसकी साड़ी का एक छोर कन्धे से पलंग पर गिर गया था। अपने हाथ में लिया वह फोटो पलंग पर, निगम के सामने डालते हुए उसने आग्रह किया—"ऐसा कहाँ है! कब देखा आपने?"

निगम के सिर में रक्त के हथौड़े की चोटें-सी अनुभव हो रही थीं। उसके शरीर के सब स्नायु तन गए—"क्या हो रहा है? शरम! ...बीमार लड़की!"

"यहाँ आओ!" व्याकुलता से मचलकर माया ने निगम को पुकारा।

माया अपनी कुर्ती को खोल देने के लिए खींच रही थी। काजों में फँसे बटन खिंचे जा रहे थे और उसके स्तन चोंच उठाए तीतरों की तरह कुर्ती को फाड़ देना चाहते थे।

बहुत ज़ोर से दिए गए धक्के के विरुद्ध पांव जमाने का प्रयत्न कर निगम ने कड़े स्वर में उत्तर दिया—"पागल हो! ...होश करो!"

माया का चेहरा तमतमा उठा। माया सन्न-से निश्चल हो गई। पिघली हुई आँखें पथरा गईं और गर्दन क्रोध में तन गई। श्वास और भी गहरा और तेज़ हो गया। आधा क्षण स्तब्ध रहकर क्रोध से निगम को घूरकर कड़े स्वर में फुंकार उठी—"तो तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?" ...

वह आँचल को संभाले बिना झपाटे से फर्श पर खड़ी हो गई। दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे आंसुओं से डबडबाई आँखों में चिनगारियाँ भरकर उसने होंठ चबाकर धमकाया —"जाओ! जाओ! हट जाओ!"

निगम के पांव तले की धरती निकल गई। एक कंपकंपी-सी आ गई। वह अवाक् रह गया।

माया फिर पलंग पर गिर पड़ी। वह अपना सिर बाँहों में छिपाकर औंधे मुँह लेट गई। उसकी पीठ बहुत ज़ोर की रुलाई से हिल रही थी।

निगम एक क्षण उसकी ओर देखता खड़ा रहा और फिर किवाड़ खोलकर तेज़ कदमों से चला गया।

निगम अगले दिन चाची के जोड़ों के दर्द की चिन्ता से लखनऊ लौट गया।

माया का ज्वर फिर बढ़ने लगा। डाक्टर ने सप्ताह भर उसके स्वास्थ्य में सुधार हो सकने की प्रतीक्षा की। ज्वर नहीं रुका।

डाक्टर ने राय दी—"बरसात की सर्दी और सील आपको माफिक नहीं बैठ रही। दो महीने का मौसम ठीक नहीं। आप आगरा लौट जाइए। सितम्बर के मध्य में लौट सकें तो

लाभ हो सकता है...।’

फिर माया के विषय में कोई समाचार नहीं मिला।

धर्मयुद्ध

श्री कन्हैयालाल के परिवार में घटी धर्मयुद्ध की घटना कहने से पहले कुछ भूमिका की आवश्यकता है ताकि गलतफहमी का अवसर न रहे।

कुरुक्षेत्र में जो 'धर्मयुद्ध' हुआ था उसमें शस्त्रों का यानी गांधीवाद के दृष्टिकोण से पाशविक बल का ही प्रयोग किया गया था। कहा जाता है, सतयुग से लेकर द्वापर तक धर्मयुग का काल रहा है। वह युग आध्यात्मिकता और नैतिकता का युग था। सुनते हैं कि उस काल में लोग बहुत शान्तिप्रिय और सन्तुष्ट थे परन्तु सभी लोग सदा सशस्त्र रहते थे। न्याय, अन्याय और उचित-अनुचित का प्रश्न जब भी उठता था तो निर्णय शस्त्रों के प्रयोग और रक्तपात से ही होता था। झगड़ा चाहे भाइयों में हो रहा हो या देव-दानवों में या पति-पत्नी में, जैसे कि ऋषि जमदग्नि अपनी पत्नी से असन्तुष्ट हो गए थे या ऋषियों के समाज में द्वन्द्व हो जाता था, जैसा कि ब्रह्मषि वशिष्ठ और राजर्षि विश्वामित्र में हो गया था।

इधर ज्यों-ज्यों मानव समाज में आध्यात्मिकता का ह्रास होता गया, लोग निःशस्त्र रहने लगे। झगड़े तो होते ही रहे हैं, होते ही हैं; परन्तु निःशस्त्र होने के कारण लोग झगड़े के समाधान के लिए नैतिक शक्ति का प्रयोग करने लगे हैं। शस्त्रों के बिना नैतिक शक्ति से न्याय और धर्म के लिए लड़ने या संघर्ष करने की विधि का नाम कालान्तर में सत्याग्रह पड़ गया। सत्याग्रह को ही हम वास्तव में धर्मयुद्ध कह सकते हैं क्योंकि युद्ध या संघर्ष की इस विधि में मनुष्य पाशविक बल से नहीं बल्कि आत्मबलिदान से या धर्म-बल से ही न्याय की प्रतिष्ठा का यत्न करता है। श्री कन्हैयालाल के पारिवारिक क्षेत्र में विचारों का संघर्ष धर्मयुद्ध की विधि से ही हुआ था।

श्री कन्हैयालाल का परिचय आवश्यक है। यों तो कन्हैयालाल की स्थिति हमारे दफ्तर के सौ-सवा सौ रुपये माहवार पानेवाले दूसरे बाबुओं के समान ही थी परन्तु उनके व्यवहार में दूसरे सामान्य बाबुओं से भिन्नता थी। सौ-सवा सौ रुपये का मामूली आर्थिक आधार होने पर भी उनके व्यवहार में एक बड़प्पन और उदारता थी, जैसे ऊँचे स्तर के बड़े बाबू लोगों में होती है। वे दस्तखत करते थे 'के. लाल' और हाथ मिलाते तो ज़रा कलाई झटककर। होंठों पर मुस्कराहट आ जाती। हाऊ डू यू डू! (कहिए क्या हाल है?) पूछ लेते —ह्वाट कैन आई डू फॉर यू? (आपके लिए मैं क्या कर सकता हूँ?)

दफ्तर के कुछ तुनकमिजाज लोग के. लाल के 'ह्वाट कैन आई डू फॉर यू' (आपके लिए मैं क्या कर सकता हूँ) के प्रश्न पर अपना अपमान भी समझ बैठते और कुछ उनकी इस उदारता का मज़ाक उड़ाकर उन्हें 'बॉस' (मालिक) पुकारने लगे थे, लेकिन के. लाल के व्यवहार में दूसरों का अपमान करने की भावना नहीं थी। दूसरे को क्षुद्र बनाए बिना ही वे स्वयं बड़प्पन अनुभव करना चाहते थे। इसके लिए हमसे और हमारे पड़ोसी दीना बाबू से कभी किसी प्रतिदान की आशा न होने पर भी उन्होंने कितनी ही बार हमें कॉफी हाउस

में कॉफी पिलाई और घर पर भी चाय और शरबत से सत्कार किया। लाल की इस सब उदारता का मूल्य हम इतना ही देते थे कि उन्हें अपने से अधिक बड़ा आदमी और अमीर स्वीकार करते रहते। दफ्तर के चपरासी लाल का आदर लगभग बड़े साहब के समान ही करते थे। लाल के आने पर उसकी साइकिल थाम लेते और छुट्टी के समय साइकिल को झाड़-पोंछकर आगे बढ़ा देते। कारण यह कि लाल कभी पान या सिगरेट का पैकेट मंगाते तो कभी-कभार रुपये में से शेष बचे दाम चपरासी को बख्शीश में दे देते।

हम लोग दफ्तर में तीन-चार बरस से काम कर रहे थे; पचहत्तर रुपये पर काम आरम्भ करके सवा-सौ तक पहुँचे थे; दफ्तर की साधारण सालाना तरक्की के अतिरिक्त कोई सुनहरा भविष्य सामने नहीं था। ऐसी आशा भी नहीं थी कि हमें कभी असिस्टेण्ट या मैनेजर बन जाना है, परन्तु के. लाल शीघ्र ही किसी ऐसी तरक्की की आशा में थे। तीन-चार मास पूर्व ही वे किसी बड़े आदमी की सिफारिश से दफ्तर में आये थे। प्रायः बड़े आदमियों से सम्पर्क की बातें इस भाव से करते कि अपने समान आदमियों की ही बात कर रहे हों, अक्सर कह देते—"ग्राहम एण्ड ग्रिण्डले के दफ्तर से उन्हें चार सौ का ऑफर है, अभी सोच रहे हैं...या 'मैकेज़ी एण्ड विनसन' उन्हें तीन सौ तनख्वाह और बिक्री पर तीन प्रतिशत और फर्स्ट क्लास का किराया देने के लिए तैयार है, लेकिन सोच रहे हैं...।"

हमारे दफ्तर में उन्हें लोहे की सलाखों और चद्दरों के आर्डर बुक करने का काम दिया गया था। इस ड्यूटी के कारण उन्हें दफ्तर के समय की पाबन्दी कम रहती, घूमने-फिरने का समय मिलता रहता और वे अपने-आपको साधारण बाबुओं से भिन्न समझते थे। इस काम में कम्पनी को कोई विशेष सफलता उनके आने से नहीं हुई थी, इसलिए शीघ्र ही कोई तरक्की पा जाने की लाल की आशा हमें बहुत सार्थक नहीं जान पड़ रही थी, परन्तु लाल को अपने उज्ज्वल भविष्य पर अडिग विश्वास था। ऊँचे दर्जे के खर्च से बढ़ते हुए कर्ज़े की चिन्ता के कारण उनके माथे पर कभी तेवर नहीं देखे गए और न उनके चाय, शरबत और सिगरेट ऑफर (प्रस्तुत) करने में कोई कृपणता देखी गई। उन्हें ज्योतिषी द्वारा बताए अपनी हस्तरेखा के फल पर दृढ़ विश्वास था।

जैसे जंगल में आग लग जाने पर बीहड़ झाड़-झंखाड़ में छिपे जानवरों को मैदानों की ओर भागना पड़ता है तो टुच्चे-टुच्चे शिकारियों की भी बन आती है, वैसे ही पिछले युद्ध के समय छोटे-छोटे व्यापारियों की भी बन आई थी। महान् राष्ट्रों को परस्पर संहार के लिए सभी पदार्थों की अपरिमित आवश्यकता हो गई थी। सर्वसाधारण जनता तो अभाव से मर रही थी। परन्तु व्यापारी समाज की बन आई। युद्ध के समय हमारी मिल को ग्राहक और एजेण्ट ढूंढ़ने नहीं पड़ रहे थे बल्कि ग्राहक और एजेण्टों से पीछा छुड़ाना पड़ रहा था। लाल का काम सहज हो गया था। उनका काम था मिल के लोहे का कोटा बांटना और मिल के लिए लाभ की प्रतिशत-दर बढ़ाना।

के. लाल के वेतन में कोई अन्तर नहीं आया था परन्तु अब वे साइकिल पर पांव चलाते दफ्तर आने के बजाय टांगे या रिक्शा पर आते दिखाई देते। टांगेवाले की ओर रुपया फेंककर बाकी रेज़गारी के लिए नहीं बल्कि उसके सलाम का जवाब देने के लिए ही उसकी ओर देखते थे। कई बार उनके मुख से सेकेण्ड हैण्ड 'शेवरले' या 'वाक्सहाल' गाड़ी का ट्रायल लेने जाने की बात भी सुनाई दी। अब वे चार-चार, पांच-पांच आदमियों को कॉफी हाउस ले जाने लगे थे और उन्मुक्त उदारता से पूछते—"ह्वाट वुड यू लाइक टु हैव?" (क्या पसन्द कीजिएगा?)

अपने घर पर भी अब वे अधिक लोगों को निमन्त्रण देने लगे। अब उनके घर जाने

पर हर बार कोई-न-कोई नई चीज़ दिखाई दे जाती। कमरे का आकार बढ़ नहीं सकता था इसलिए वह फर्नीचर और सामान से अटा जा रहा था। जगह न रहने पर पुरानी कुर्सियाँ सोफों के पीछे रख दी गई थीं और टी-टेबलें, कार्नर-टेबलें और पैग-टेबलें मेज़ों और सोफों के नीचे खिसका दी गई थीं। मेहमानों के सत्कार में भी अब केवल चायदानी या शरबत का जग ही सामने नहीं आता था। के. लाल तराशे हुए बिल्लौर का डिकेण्टर उपेक्षा से उठाकर आग्रह करते—"हैव ए डैश आफ ह्विस्की?" (एक दौर ह्विस्की का हो जाए?)

धन्यवाद सहित नकारात्मक उत्तर दे देने पर भी वे अपनी उदारता को समेट लेने के लिए तैयार न होते; आग्रह करते—'तो रम लो?...अच्छा, गिमलेट?"

युद्ध के दिनों में कुछ समय वैकाइयों (W.A.C.A.I.) की भी बहार आई थी। सर्वसाधारण लोग बाज़ार में जवान, चुस्त, बेझिझक छोकरियों के दलों को देखकर हैरान थे, जैसे नील गायों का कोई दल नगर की सीमा फांद आया हो। सामर्थ्य रखनेवाले लोग प्रायः इनकी संगति का प्रदर्शन कर गौरव अनुभव करते थे। ऐसी तीन-चार हंसमुखियाँ के. लाल साहब की महफिल में भी शोभा बढ़ाती थीं।

के. लाल के माता-पिता अपेक्षाकृत रूढ़िवादी हैं। आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में उनकी धारणाएं धर्म, पाप और पुण्य के विचारों में बंधी हैं। अपने एकमात्र पुत्र की सांसारिक समृद्धि से उन्हें सन्तोष और गौरव अनुभव होता था परन्तु उसकी आचार-सम्बन्धी उच्छृंखलता से अपना धर्म और परलोक बिगड़ जाने की भी वे उपेक्षा न कर सकते थे। एक दिन माता-पिता और पुत्र की आचार-सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर-विरोध के कारण धर्मयुद्ध ठन गया।

के. लाल ने अपने अन्तरंग मित्र मि. माथुर और वैकाई में काम करनेवाली उनकी पत्नी तथा उनकी साली को डिनर और कॉकटेल (भोजन और मदिरा) के लिए निमन्त्रित किया था। इस प्रकार की पार्टियाँ होती थीं तो इस सावधानी से कि ऊपर की मंजिल में रसोई-चौके के काम में व्यस्त उनकी मां और संग्रहणी के रोग से जर्जर खाट पर पड़े उनके पिता को पार्टी की बातचीत और खान-पान के ढंग का आभास न हो पाता था। पार्टी के कमरे से रसोई तक सम्बन्ध नौकर या श्रीमती लाल द्वारा ही रहता था। श्रीमती लाल सास-ससुर की धार्मिक निष्ठा की अपेक्षा अपने पति के सन्तोष को ही अपना धर्म मानती थीं। सास के रूखे अनुशासन की अपेक्षा पति की उच्छृंखलता उनके लिए सह्य थी।

उस सन्ध्या ऊपर और नीचे की मंज़िलों का प्रबन्ध अलग-अलग रखने के लिए श्रीमती लाल ने पति से पूछा—"विद्या और आनन्द का क्या होगा?"

के. लाल की बहन विद्या अपने पति आनन्द सहित आगरे से आकर एक सप्ताह के लिए भाई के यहाँ ठहरी हुई थी। बहन और बहनोई को मेहमानों से मिलने से रोके रहना सम्भव न था। इसमें आशंका भी थी क्योंकि विद्या को उस कम उम्र में भी धार्मिकता का गर्व अपनी मां से कुछ कम न था।

लाल ने दांत से नाखून खोटते हुए सलाह दी—"तुम विद्या को समझा दो।"

"यह मेरे बस का नहीं...।" श्रीमती लाल ने दोनों हाथ उठाकर दुहाई दी—"तुम्हीं आनन्द को समझा दो; वही विद्या को संभाल सकता है।"

लाल ने आनन्द को एक ओर ले जाकर उसके हाथ अपने हाथ में थाम विश्वास और भरोसे के स्वर में समझाया—"आज मेहमान आ रहे हैं; मेहमानों के लिए तो करना ही पड़ता है! तुम तो साथ ही होगे! अगर विद्या को एतराज हो तो कुछ समय के लिए टाल

देना। या उसे समझा दो! ... तुम जैसा समझो! विद्या को पहले से समझा देना ठीक होगा। उसे शायद यह बात विचित्र जान पड़े। माताजी के विचार और व्यवहार तुम जानते ही हो। विद्या जाकर माताजी से कुछ न कह दे!" लाल ने मुस्कराकर अपना पूर्ण विश्वास और भरोसा प्रकट करने के लिए बहनोई के हाथ ज़रा और ज़ोर से दबा दिए।

आनन्द ने विद्या को एक ओर बुलाकर समझाया—"...आजकल के ज़माने में यह सब होता ही है। भैया की मजबूरी है...तुम जानती हो मैं तो कभी पीता नहीं। हमारी वजह से इन लोगों के मेहमानों को क्यों परेशानी हो? तुम इतना ध्यान रखना कि माताजी को नीचे न आना पड़े।" विद्या ने सुना और मानसिक आघात से चुप रह गई।

मिस्टर माथुर, मिसेज़ माथुर अपनी साली के साथ ज़रा विलम्ब से पहुँचे थे। पार्टी शुरू हो गई थी। पहला पेग चल रहा था। हँसी-मज़ाक की दबी-दबी आवाज़ें ऊपर की मंज़िल में पहुँच रही थीं। आनन्द कुछ देर नीचे बैठता और फिर ऊपर जाकर देख आता कि सब ठीक है।

विद्या ने पूछा—"नीचे क्या हो रहा है?"

भरोसे में आनन्द ने जो हो रहा था बता दिया और फिर नीचे आ हँसी-मज़ाक का रस लेने लगा।

मां जी जानती थीं कि हँसी-मज़ाक और गप्पबाजी में लगे मेहमान लोग आधी रात से पहले खाना नहीं खाएंगे, इसलिए उन्होंने बहू को पुकारकर चेतावनी दे दी—"यहाँ रात-भर चूल्हे के पास बैठना मेरे बस का नहीं। मेहमान जब खाएं, तुम खिला देना।"

रसोई से निकलने से पहले मांजी ने बेटी को पुकारा—"तुम तो खा लो, या आनन्द की राह देखती रहोगी?"

"आप लोग खाइए, मुझे नहीं खाना है!" विद्या का अनुस्वार-ध्वनित उत्तर सुनाई दिया। बेटी के स्वर में रुलाई का आभास पाकर मांजी ने आशंका से पुकारा—"सुन तो, यहाँ तो आ...! बात क्या है?"

दो-तीन बार पुकारी जाने पर विद्या मुँह लटकाए मांजी के सामने पहुँची और समीप बैठ घुटनों में सिर छिपा रो पड़ी।

मांजी ने बार-बार विह्वल स्वर में बेटी के रोने का कारण पूछा। विद्या फूट-फूटकर रोई और तब बताया—"हाय, मैं कहाँ आ मरी। मुझे मालूम होता कि अब यह होता है तो मैं इन्हें लेकर क्यों आती!"

मांजी ने बेटी के सिर पर हाथ रख कसम देकर पूछा—"बोलती क्यों नहीं... क्या बात है, बोल न?"

विद्या ने विह्वलता से रो-रोकर बताया—"बताऊँ क्या; मुझ पर ही बीतेगी... उन्हें नीचे बैठाकर शराब पिला रहे हैं। जाने कौन दो रांड़ें आई हुई हैं?...भैया बड़े आदमी हैं, चाहे जो करें। मैं तो कहीं की न रहूँगी। इन्हें ऐसी लत लग गई तो मुझ पर क्या बीतेगी!"

मांजी के मस्तिष्क में अपने परिवार के सर्वनाश की आशंका और भयंकर पाप के प्रति क्रोध की चिनगारियों की आतिशबाजी-सी छूट गई। जिस अवस्था में बैठी थीं—पके-उलझे-खुले बाल, पुरुष की दृष्टि के प्रति निःशंक, शिथिल खुले शरीर पर बेपरवाही से डाला हुआ धोती का आँचल वैसे ही ज़ीना उतरते समय धोती को पांव में उलझ जाने से बचाने के लिए उत्तेजना में घुटनों से भी ऊपर उठाए वे नीचे की मंज़िल में आ पहुँचीं। धक्का देकर उन्होंने बैठक के किवाड़ खोल दिए।

बिजली के प्रकाश में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे क्रोध में बदहवास हो गईं। जैसे

अपनी सन्तान को शेर के मुँह में जाते देख गैया क्रोध और दुस्साहस में अपने सामर्थ्य के औचित्य की चिन्ता न कर शेर के मुंह में अपने निर्बल सींग अड़ा दे।

बैठक की महफिल अपने हँसी-मज़ाक के ठहाकों में मांजी के ज़ीना उतरने की आहट न पा सकी थी। के. लाल रंग में आकर माथुर की साली को पेग खत्म करने में सहायता देने के लिए उसका गिलास उठाकर उसके मुख से लगाए थे। मिसेज़ माथुर लाल को सन्तुष्ट करने के लिए मुस्कराती हुई अपने गिलास में बोतल से नया पेग डाल रही थीं।

भयंकर चीत्कार का शब्द सुनकर सबकी दृष्टि दरवाज़े की ओर गई और देखा—मांजी केश बिखरे, अर्धनग्न शरीर सामने खड़ी थीं। उनकी आँखें दिन के प्रकाश में जलते बिजली की टार्च के बल्बों की तरह निस्तेज होकर भी चमक रही थीं।

मांजी अपनी ढीली धोती के खिसक जाने की भी परवाह न कर हाथ आगे बढ़ाकर चिल्ला उठीं—'सत्यानास हो तुम रांड़ों का! ...तुम्हारा कोई न रहे! ... दूसरों का घर उजाड़ रही हो...अपनों को लेकर मरो!'

घरवाले और मेहमान स्तब्ध थे। लाल ने माथुर की साली के होंठों से लगाया हुआ गिलास और मिसेज़ माथुर ने अपने हाथ में थमी हुई बोतल तुरन्त मेज़ पर रख दी। मेहमानों के होंठ और नेत्र विस्मय से फैले रह गए।

के. लाल स्थिति संभालने के लिए अपने स्थान से उठ तुरन्त मांजी के समीप पहुँचे और उनके कन्धों पर हाथ रखकर दबे स्वर में धमकाकर बोले, "यह आप क्या तमाशा कर रही हैं? आपको घर की इज़्ज़त का कुछ खयाल नहीं? मेहमानों से आप क्यों उलझ रही हैं? आपको जो कुछ भी कहना है, गाली देना है, जूते मारना है, हमें ऊपर बुलाकर कीजिए!"

परन्तु मांजी उस सर्वनाश के सम्मुख क्या औचित्य सोचतीं! उन्होंने बेटे की भर्त्सना अनसुनी कर दोनों उपस्थित श्रीमतियों की ओर हाथ फैलाकर चीत्कार किया—"हाय-हाय रण्डियो, तुम्हारे सिर आग लगे! निकलो यहाँ से! नहीं तो झाड़ू मारकर..."

के. लाल मांजी के मुँह पर हाथ रखकर और आनन्द उन्हें बाँहों से थामकर आंगन में जाने और चुप कराने का यत्न कर रहे थे, परन्तु उनका स्वर तीखा होता जा रहा था—'निकलो अभी! तुम्हारा झोंटा पकड़कर..."

माथुर, मिसेज़ माथुर और उनकी साली सिर झुकाए उठ गए। सकपकाए हुए दूसरे कमरे के रास्ते आंगन में आ, ज़ीने से गली में उतरने लगे।

विकट स्थिति के कारण लाल के प्राण कण्ठ में आ गए थे। वे मांजी को छोड़ तुरन्त मेहमानों के सामने जाकर राह रोक कातर स्वर में बोले—"आप लोग ठहरिए। एक मिनट ठहरिए। मुझे बहुत खेद है मैं क्या कह सकता हूँ। आप लोग एक मिनट ठहरें। अभी सब ठीक हो जाएगा।" लाल गिड़गड़ाते रहे, परन्तु मेहमान विवशता से झुकी आँखों से क्षमा माँगते हुए सीढ़ी उतर गए।

मेहमानों के चले जाने पर भी मांजी ऊँचे स्वर में अपने पुत्र और परिवार का सर्वनाश करनेवालों को अभिशाप दिए जा रही थीं। विद्या भी नीचे उतर आई और एक कोने में खड़ी हो रोने लगी। उसे देखकर आनन्द ने धमकाया—"यह सब तुम्हारी शरारत है। अब ऊपर से दुखिया बन रही हो।"

विद्या ने धमकी से चुप न होकर कड़े स्वर में उत्तर दिया—"तुम शराब पियो, व्यभिचार करो, झूठ बोलो और उलटे मुझे गाली देते हो!"

मेहमानों के चले जाने पर लाल ने चिल्लाती हुई मांजी के सामने अपनी बाँह उठाकर

मांजी के स्वर से भी ऊँचे स्वर में घोषणा की—"मांजी, आपने मेरे घर में, मेरे सामने मेरे मेहमानों को बेइज़्ज़त किया है। मेहमानों के इस अपमान का प्रायश्चित मैं अपनी जान देकर करूँगा।" यह घोषणा कर लाल दीवार के समीप फर्श पर बैठ गए और अपना सिर ज़ोर-ज़ोर से पक्की ईंटों से टकराने लगे।

श्रीमती लाल पति को अपना सिर फोड़ते देखकर चीखकर दौड़ीं। पति के सिर को चोट से बचाने के लिए दीवार के सामने हो गईं। लाल ने प्राण-विसर्जन का संकल्प कर लिया था, वे नहीं माने।

वे दीवार की ओर बाधा पाकर अपना सिर फर्श पर मारने लगे।

श्रीमती लाल और भी ज़ोर से चिल्लाने लगीं—"हाय मार डाला! हाय मैं मर गई!"

विद्या ज़ोर से 'भैया-भैया' चिल्लाती हुई लाल से लिपट गई। आनन्द ने भी लाल को थामने का यत्न किया।

कोहराम की गूँज ऊपर पहुँची। पिताजी अपनी खाट से उठकर छज्जा पकड़कर चिल्ला-चिल्लाकर पूछने लगे—"क्या है, क्या हुआ?"

पिताजी अपने प्रश्न का कोई उत्तर न पाकर क्रोध में गाली देने लगे—"...हरामज़ादे सुनते नहीं!"

मांजी का हृदय बेकाबू हो उठा। वे भी दौड़कर पुत्र के सिर को अपनी गोद में ले लेने का यत्न करने लगीं। लाल अब तक काफी चोट खा चुके थे। वे बेहोश होकर लेट गए थे।

पति को चोट से बेहोश हो गया देखकर श्रीमती लाल ने एक बहुत ही दारुण चीख मारी और अपना सिर पीटती हुई सास को गालियों से अभिशाप देने लगी। आंगन में बीभत्स विलाप का कोलाहल मच गया। विद्या भैया के लिए और मांजी पुत्र के लिए अपनी छाती पीट-पीटकर चीखने लगीं।

आनन्द ने रोती-पीटती स्त्रियों को पीछे हटाकर चुप रहने के लिए धमकाया। लाल के मुख पर पानी के छींटे देकर उन्हें सुध में लाने का यत्न करने लगा।

पिताजी दीवारों का सहारा लेते हुए जीने से उतर आए। मूर्च्छित पुत्र के समीप फर्श पर बैठ गए। दोनों हाथों से सिर को थाम लिया। सांस लेकर पुत्रहन्ता मां को 'डायन', 'चुड़ैल', और 'राक्षसी' सम्बोधन करके गालियाँ देने लगे। उन्होंने घोषणा की—"मेरे बेटे को कुछ हो गया तो पहले मेरी लाश उतरेगी।" उन्होंने अपने लिए श्मशान-यात्रा का प्रबन्ध करने की आज्ञा दे दी।

पिताजी की दृष्टि आंगन की दीवार के साथ टिकी हुई कपड़ा धोने की मोंगरी पर पड़ गई। उन्होंने मोंगरी उठा आत्महत्या के लिए अपने सिर पर मार ली। जमाई और बेटी ने दौड़कर वह मोंगरी उनसे छीन ली। पिताजी दम उखड़ जाने से विह्वल होकर पुत्र के समीप फर्श पर लेट गए और बोले—"अब मुझे भी यहाँ से ही श्मशान ले जाना!"

विद्या मृत्यु के समय लय से रोने के कातर स्वर में चीखने लगी—"हाय मैं मर जाऊँ। मैंने तो तुम्हारा धर्म रखने के लिए ही सच कह दिया था। हाय परमात्मा, तू मुझे उठा ले। मेरे भाई का बाल न बांका हो!"

मांजी अपना सिर पुत्र के चरणों में रखकर बोलीं—"तुम मेरे ईश्वर हो, तुम मेरे देवता हो! मेरे अपराध क्षमा करो! उठकर मेरे अपराध का दण्ड दो!"

के. लाल के यहाँ कोलाहल मचता ही रहता था इसलिए पड़ोसियों ने कुछ देर परवाह न की, परन्तु जब उस कोलाहल की दारुणता की ओर ध्यान गया तो दीना बाबू को पहुँचना ही पड़ा। दो-एक दूसरे पड़ोसी भी पहुँच गए। किसी ने सुझाया—"डाक्टर को

नहीं बुलाया?"

दीना बाबू डाक्टर को बुलाने गए। के. लाल के यहाँ से बुलावा होने के कारण आधी रात में भी पड़ोस के डाक्टर नाथ दौड़े हुए आए। डाक्टर भी लाल की उदारता के आभारी थे।

डाक्टर ने आकर लाल की नाड़ी की परीक्षा की, हृदय को टटोला, पलकें पलटकर टार्च से पुतलियों को देखा और बोले—"चिन्ता की कोई बात नहीं।"

आनन्द ने लाल की बेहोशी का कारण फिसलकर गिर पड़ना और सिर फर्श से टकरा जाना बतलाया। डाक्टर ने फिर आश्वासन दिया—"चिन्ता की कोई बात नहीं। चोट के कारण बेहोशी आ गई जान पड़ती है।" पानी मंगाकर उन्होंने लाल के मुख पर छींटे दिए। उन्हें होश में आते न देख डाक्टर ने उनकी नाक और मुँह दबा दिया। लाल कुछ क्षण निश्चल रहे फिर उनका शरीर तिलमिलाया और छटपटाकर उठ बैठे।

डाक्टर के आ जाने पर विलाप का स्वर बन्द हो गया था। लाल ने उठकर मूर्च्छा से जागनेवाले व्यक्ति की तरह प्रश्न पूछे—"क्या हुआ?...मैं कहाँ हूँ?"

डाक्टर और दूसरे लोगों के चले जाने पर लाल फिर फर्श पर लेट गए और बोले—"मेरे घर में अतिथि का अपमान हुआ है। मैं यहाँ ही प्राण त्यागकर प्रायश्चित करूँगा, उठूंगा नहीं!"

इस पर पिताजी ने पुत्रहन्ता मां को फिर से गालियाँ देना आरम्भ कर दिया। मांजी ने पुत्र के चरणों में सिर रखकर बार-बार दुहाई दी और अपने देवता-स्वरूप, परमेश्वर के अवतार बेटे की इच्छा के विरुद्ध ज़बान न हिलाने की प्रतिज्ञा की। सब लोग लाल से उठकर भीतर चलने के लिए अनुरोध कर रहे थे, परन्तु लाल प्राण रहते उस स्थान से उठने के लिए तैयार न थे।

पूरे परिवार के बहुत विह्वल और कातर हो जाने पर लाल ने दीर्घ निःश्वास लिया और अपनी शर्त रखी—"जिन अतिथियों को अपमान करके घर से निकाला गया है, उन्हें आदरपूर्वक अभी वापस बुलाया जाए। उनसे अपने अपराध की क्षमा माँग लेने के बाद ही वे फर्श से हिलेंगे।"

रात को डेढ़ बज चुका था परन्तु घर-भर ने आनन्द से अनुरोध किया कि वह इसी समय जाकर माथुर, उसकी पत्नी और साली को सवारी पर लिवा लाए।

मि. माथुर, मिसेज़ माथुर और उनकी साली के सामने विकट परिस्थिति थी। जिस घर से गाली देकर और झोंटा पकड़कर झाड़ू मारने की धमकी देकर निकाला गया हो, रात बीतने से पहले ही फिर उसी घर में जाना उनके लिए कैसे सही हो सकता था, परन्तु आनन्द ने गिड़गिड़ाकर उनके सामने स्थिति रखी—"इस समय भैया, भाभी और पिताजी के प्राणों की रक्षा आपके ही हाथ में है। आप लोग इस समय नहीं चलेंगे तो सुबह तक जाने आपको क्या समाचार मिले! इस समय आपके हाँ या ना पर ही सब कुछ निर्भर है।"

माथुर पत्नी और साली सहित तुरन्त लाल के यहाँ जाने के लिए विवश हो गए।

लाल आंगन में आकाश के नीचे, आत्मीयों से घिरे कुरुक्षेत्र के मैदान में शर-शय्या पर लेटे भीष्म पितामह की तरह पड़े थे। श्रीमती लाल, विद्या, मांजी और पिताजी उन्हें घेरे बैठे थे। मेहमानों के लौट आए बिना लाल उठने के लिए तैयार न थे। उन्हें सर्दी खा जाने से बचाने के लिए कुछ कम्बल उन पर लाकर डालने की चेष्टा कई बार की गई, परन्तु उन्होंने कम्बल को परे फेंक दिया—मेहमानों से क्षमा पाए बिना प्राण-रक्षा का कोई प्रयत्न करने के लिए वे तैयार न थे।

अतिथि लौटकर आए और सम्बन्धियों के साथ ही लाल को घेरकर बैठ गए। लाल की इच्छा फर्श से उठने की न थी। वे चाहते थे केवल एक बात—'अतिथि सच्चे हृदय से उनका अपराध क्षमा कर दें और वे शान्त चित्त से, वहीं लेटे-लेटे अतिथि-अपमान के अपराध के प्रायश्चित्त में अपने प्राण-विसर्जन कर दें।

माथुर, उनकी पत्नी, साली ने लाल को बार-बार अपने सिर की कसमें देकर और उनकी बाँहें खींच-खींचकर उठने का अनुरोध किया। बीती घटना के लिए मन में कतई मैल न होने का विश्वास दिलाया। उन लोगों ने आगामी सन्ध्या ही लाल के यहाँ डिनर और कॉकटेल पार्टी का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया तो लाल ने एक बाँह मिसेज़ माथुर के कन्धे पर रखी और दूसरी बाँह माथुर की साली के कन्धे पर। श्रीमती लाल ने पति की पीठ को सहारा दिया। इस प्रकार लाल फर्श से उठे और आमरण सत्याग्रह को छोड़ धर्मयुद्ध में घायल परन्तु विजयी महारथी की भांति लड़खड़ाते हुए डिनर की टेबिल पर जा बैठे।

चित्र का शीर्षक

जयराज जाना-माना चित्रकार था। वह उस वर्ष अपने चित्रों को प्रकृति और जीवन के यथार्थ से सजीव बना सकने के लिए, अप्रैल के आरम्भ में ही रानीखेत जा बैठा था। उन महीनों पहाड़ों में वातावरण खूब साफ और आकाश नीला रहता है। रानीखेत से 'त्रिशूल', 'पंचचोली' और 'चौखम्बा' की बरफानी चोटियाँ, नीले आकाश के नीचे माणिक्य के उज्ज्वल स्तूपों जैसी जान पड़ती हैं। आकाश की गहरी नीलिमा से कल्पना होती कि गहरा नीला समुद्र ऊपर चढ़कर छत की तरह स्थिर हो गया हो और उसका श्वेत फेन, समुद्र के गर्भ से मोतियों और मणियों को समेटकर ढेर-का-ढेर नीचे पहाड़ों पर आ गिरा हो।

जयराज ने इन दृश्यों के कुछ चित्र बनाए परन्तु मन न भरा। मनुष्य के संसर्ग से हीन यह चित्र बनाकर उसे ऐसा ही अनुभव हो रहा था जैसे निर्जन बियाबान में गाए राग का चित्र बना दिया हो। ये चित्र उसे मनुष्य की चाह और अनुभव के स्पन्दन से शून्य जान पड़ते थे। उसने कुछ चित्र, पहाड़ों पर पसलियों की तरह फैले हुए खेतों में श्रम करते पहाड़ी किसान स्त्री-पुरुषों के बनाए। उसे इन चित्रों से भी सन्तोष न हुआ। कला की इस असफलता से अपने हृदय में एक हाय-हाय का-सा शोर अनुभव हो रहा था। वह अपने स्वप्न और चाह की बात प्रकट नहीं कर पा रहा था।

जयराज अपने मन की तड़प को प्रकट कर सकने के लिए व्याकुल था। वह मुट्ठी पर ठोड़ी टिकाए बरामदे में बैठा था। उसकी दृष्टि दूर-दूर तक फैली हरी घाटियों पर तैर रही थी। घाटियों के उतारों-चढ़ावों पर सुनहरी धूप खेल रही थी। गहराइयों में चांदी की रेखा जैसी नदियाँ कुण्डलियाँ खोल रही थीं। दूध के फेन जैसी चोटियाँ खड़ी थीं। कोई लक्ष्य न पाकर उसकी दृष्टि अस्पष्ट विस्तार पर तैर रही थी। उस समय उसकी कल्पना, उसकी स्थिर आँखों के छिद्रों के सामने की चढ़ाई पर एक सुन्दर, सुघड़ युवती को देखने लगी जो केवल उसकी दृष्टि का लक्ष्य बन सकने के लिए ही, उस विस्तार में जहाँ-तहाँ, सभी जगह दिखाई दे रही थी।

जयराज ने एक अस्पष्ट-सा आवश्यक अनुभव किया। इस अनुभूति को पकड़ पाने के लिए उसने अपनी दृष्टि उस विस्तार से हटा, दोनों बाँहों को सीने पर बाँधकर एक गहरा निःश्वास लिया। उसे जान पड़ा जैसे अपार पारावार में बहता निराश व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए आनेवाले की पुकार सुन ले। उसने अपने मन में स्वीकार किया, यही तो वह चाहता है—कल्पना से सौन्दर्य की सृष्टि कर सकने के लिए उसे स्वयं भी जीवन में सौन्दर्य का सन्तोष मिलना चाहिए; बिना फूलों के मधुमक्खी मधु कहाँ से लाए?

ऐसी मानसिक अवस्था में जयराज को एक पत्र मिला। यह पत्र इलाहाबाद से उसके मित्र एडवोकेट सोमनाथ ने लिखा था। सोमनाथ ने जयराज का परिचय उसकी कला के प्रति अनुराग और आदर के कारण प्राप्त किया था। कुछ अपनापन भी हो गया था। सोम

ने अपने उत्कृष्ट कलाकार मित्र के बहुमूल्य समय का कुछ भाग लेने की धृष्टता के लिए क्षमा माँगकर अपनी पत्नी के बारे में लिखा— "...इस वर्ष नीता का स्वास्थ्य कुछ शिथिल है, उसे दो मास पहाड़ पर रखना चाहता हूँ। इलाहाबाद की कड़ी गर्मी में वह बहुत असुविधा अनुभव कर रही है। यदि तुम अपने पड़ोस में ही किसी सस्ते, छोटे परन्तु अच्छे मकान का प्रबन्ध कर सको तो उसे वहाँ पहुँचा दूं। सम्भवतः तुमने अलग पूरा बंगला लिया होगा। यदि उस मकान में जगह हो और इससे तुम्हारे काम में विघ्न पड़ने की आशंका न हो तो हम एक-दो कमरे सबलेट कर लेंगे। हम अपने लिए अलग नौकर रख लेंगे..." आदि-आदि।

दो वर्ष पूर्व जयराज इलाहाबाद गया था। उस समय सोम ने उसके सम्मान में एक चाय-पार्टी दी थी। उस अवसर पर जयराज ने नीता को देखा था। तब सोम और नीता का विवाह हुए कुछ ही मास बीते थे। पार्टी में आए अनेक स्त्री-पुरुषों के भीड़-भड़क्के में संक्षिप्त परिचय ही हो पाया था। जयराज ने स्मृति की उंगली से अपने मस्तिष्क को कुरेदा। उसे केवल इतना याद आया कि नीता दुबली-पतली, छरहरे बदन की गोरी, हँसमुख नवयुवती थी; आँखों में बुद्धि की चमक। जयराज ने पत्र को तिपाई पर एक ओर दबा दिया और फिर सामने घाटी के विस्तार पर निरुद्देश्य नज़र किए सोचने लगा—'क्या उत्तर दे?'

जयराज की निरुद्देश्य दृष्टि तो घाटी के विस्तार पर तैर रही थी परन्तु कल्पना में अनुभव कर रहा था कि उसके समीप ही दूसरी आरामकुर्सी पर नीता बैठी है। वह भी दूर घाटी में कुछ देख रही है या किसी पुस्तक के पन्नों या अखबार में दृष्टि गड़ाए है। समीप बैठी युवती नारी की कल्पना जयराज को दूध के फेन के समान श्वेत, स्फटिक के समान उज्ज्वल; पहाड़ की बरफानी चोटी से कहीं अधिक स्पन्दन उत्पन्न करनेवाली जान पड़ी। युवती के केशों और शरीर से आती अस्पष्ट-सी सुवास, वायु के झोंकों के साथ घाटियों से आती सेवती और शिरीष के फूलों की भीनी गन्ध से अधिक सन्तोष दे रही थी। वह अपनी कल्पना में देखने लगा—नीता उसकी आँखों के सामने घाटी की एक पहाड़ी पर चढ़ती जा रही है। कूड़े, पत्थरों और कंकड़ों के ऊपर नीता की गुलाबी एड़ियाँ, सैण्डल में संभाली हुई हैं। वह चढ़ाई में साड़ी को हाथ से संभाले है। उसकी पिंडलियाँ केले के भीतर के डंठल के रंग की हैं, चढ़ाई के श्रम के कारण नीता की सांस चढ़ गई है और प्रत्येक सांस के साथ उसका सीना उठ आने के कारण, कमल की प्रस्फुटनोन्मुख कली की तरह अपने आवरण को फाड़ देना चाहता है। कल्पना करने लगा—'वह कैनवस के सामने खड़ा चित्र बना रहा है। नीता एक कमरे से निकली है। आहट से उसके काम में विघ्न न डालने के लिए पंजों के बल उसके पीछे से होती हुई दूसरे कमरे में चली जा रही है। नीता, किसी काम से नौकर को पुकार रही है। उस आवाज़ से उसके हृदय का सांय-सांय करता सूनापन सन्तोष से बस गया है...।'

जयराज तुरन्त कागज़ और कलम ले उत्तर लिखने बैठा परन्तु ठिठककर सोचने लगा—'वह क्या चाहता है? मित्र की पत्नी नीता से वह क्या चाहेगा?' तटस्थता से तर्क कर उसने उत्तर दिया—कुछ भी नहीं। जैसे सूर्य के प्रकाश में हम सूर्य की किरणों को पकड़ लेने की आवश्यकता नहीं समझते, उन किरणों से स्वयं ही हमारी आवश्यकता पूरी हो जाती है, वैसे ही वह अपने जीवन में अनुभव होनेवाले सुनसान अंधेरे में नारी की उपस्थिति का प्रकाश चाहता है।

जयराज ने संक्षिप्त-सा उत्तर लिखा—"भीड़-भाड़ से बचने के लिए अलग पूरा ही

बंगला लिया है। बहुत-सी जगह खाली पड़ी है। सबलेट का कोई सवाल नहीं। पुराना नौकर पास है। यदि नीता जी उस पर देख-रेख रखेंगी तो मेरा ही लाभ होगा। जब सुविधा हो, आकर उन्हें छोड़ जाओ। पहुँचने के समय की सूचना देना। मोटर-स्टैण्ड पर मिल जाऊँगा...।"

अपनी आँखों के सामने और इतने समीप एक तरुण सुन्दरी के होने की आशा में जयराज का मन उत्साह से भर गया। नीता की अस्पष्ट-सी याद को जयराज ने कलाकार के सौन्दर्य के आदर्शों की कल्पनाओं से पूरा कर लिया। वह उसे अपने बरामदे में, सामने की घाटी पर, सड़क पर अपने साथ चलती दिखाई देने लगी। जयराज ने उसे भिन्न-भिन्न रंगों की साड़ियों में, सलवार-कमीज़ के जोड़े की पंजाबी पोशाक में, मारवाड़ी अंगिया-लहंगे में, फूलों से भरी लताओं के कुंज में, चीड़ के तले और देवदारों की शाखाओं की छाया में सब जगह देख लिया। वह नीता के सशरीर सामने आ जाने की उत्कट प्रतीक्षा में व्याकुल होने लगा; वैसे ही जैसे अंधेरे से परेशान व्यक्ति सूर्य के प्रकाश की प्रतीक्षा करता है।

लौटती डाक से सोम का उत्तर आया—"...तारीख को नीता के लिए गाड़ी में एक जगह रिज़र्व हो गई है। उस दिन हाईकोर्ट में मेरी हाज़िरी बहुत आवश्यक है। यहाँ गर्मी अधिक है और बढ़ती ही जा रही है। मैं नीता को और कष्ट नहीं देना चाहता। काठगोदाम तक उसके लिए गाड़ी में जगह सुरक्षित है। उसे बस की भीड़ में न फँसकर टैक्सी पर जाने को कह दिया है। तुम उसे मोटर-स्टैण्ड पर मिल जाना। तुम हम लोगों के लिए जहाँ सब कुछ कर रहे हो, इतना और सही। हम दोनों कृतज्ञ होंगे...।"

जयराज मित्र की सुशिक्षित और सुसंस्कृत पत्नी को परेशानी से बचाने के लिए मोटर-स्टैण्ड पर पहुँचकर उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। काठगोदाम से जाने वाली मोटरें पहाड़ी के पीछे से जिस मोड़ से सहसा प्रकट होती थीं, उस ओर जयराज की आँखें निरन्तर लगी हुई थीं। एक टैक्सी दिखाई दी। जयराज आगे बढ़ गया। गाड़ी रुकी। पिछली सीट पर एक महिला अपने शरीर का बोझ संभाल न सकने के कारण कुछ पसरी हुई-सी दिखाई दी। चेहरे की थकावट का पीलापन और थकावट से फैली हुई निस्तेज आँखों के चारों ओर छांइयों के घेरे थे। जयराज ठिठका। महिला की आँखों में पहचान का भाव और नमस्कार में उसके हाथ उठते देख जयराज को स्वीकार करना पड़ा—

"मैं जयराज हूँ।"

महिला ने मुस्कराने का यत्न किया—"मैं नीता हूँ।"

महिला की वह मुस्कान ऐसी थी जैसे पीड़ा को दबाकर कर्तव्य पूरा किया गया हो। महिला के साधारणतः दुर्बल हाथ-पांवों पर लगभग एक शरीर का बोझ पेट पर बंध जाने के कारण उसे मोटर से उतरने में भी कष्ट हो रहा था। बिखरे जाते अपने शरीर को संभालने में उसे वैसी असुविधा हो रही थी जैसे सफर में बिस्तर के बन्द टूट जाने पर संभालना कठिन हो जाता है। महिला लंगड़ाती हुई कुछ ही कदम चल पाई कि जयराज ने एक डांडी (डोली) को पुकार उसे चार आदमियों के कन्धे पर लदवा दिया। सौजन्य के नाते उसे डांडी के साथ चलना चाहिए था परन्तु उस शिथिल और विरूप आकृति के समीप रहने में जयराज को उबकाई और ग्लानि अनुभव हो रही थी।

नीता बंगले पर पहुँचकर एक अलग कमरे में पलंग पर लेट गई। जयराज के कानों में उस कमरे से निरन्तर 'आह! ऊह! की दबी कराहट पहुँच रही थी। उसने दोनों कानों में उंगलियाँ दबाकर कराहट सुनने से बचना चाहा परन्तु उसे शरीर के रोम-रोम से वह कराहट

सुनाई दे रही थी। वह नीता की विरूप आकृति, रोग और बोझ से शिथिल, लंगड़ा-लंगड़ाकर चलते शरीर को अपनी-स्मृति के पट से पोंछ डालना चाहता था परन्तु वह बरबस आकर उसके सामने खड़ा हो जाता। नीता जयराज को उस मकान के पूरे वातावरण में समा गई अनुभव हो रही थी। जयराज का मन चाह रहा था—बंगले से कहीं दूर भाग जाए।

दूसरे दिन सुबह सूर्य की प्रथम किरणें बरामदे में आ रही थीं। सुबह की हवा में कुछ खुनकी थी। जयराज नीता के कमरे से दूर, बरामदे में आरामकुर्सी पर बैठ गया। नीता भी लगातार लेटने से ऊबकर कुछ ताजी हवा पाने के लिए अपने शरीर को संभाले लंगड़ाती-लंगड़ाती बरामदे में दूसरी कुर्सी पर आ बैठी। उसने कराहट को गले में दबा, जयराज को नमस्कार कर हाल-चाल पूछकर कहा—"मुझे तो शायद सफर की थकावट या नई जगह के कारण रात नींद नहीं आ सकी..."

जयराज के लिए वहाँ बैठे रहना असम्भव हो गया। वह उठ खड़ा हुआ और कुछ देर में लौटने की बात कह बंगले से निकल गया। परेशानी में वह इस सड़क से उस सड़क पर मीलों घूमता इस संकट से मुक्ति का उपाय सोचता रहा। छुटकारे के लिए उसका मन वैसा ही तड़प रहा था जैसे चिड़ीमार के हाथ में फँस गई चिड़िया फड़फड़ाती है। उसे उपाय सूझा। वह तेज़ कदमों से डाकखाने पहुँचा। एक तार उसने सोम को दे दिया—"अभी बनारस से तार मिला है कि रोग-शय्या पर पड़ी मां मुझे देखने के लिए छटपटा रही है, इसी समय बनारस जाना अनिवार्य है। मकान का किराया छः महीने का पेशगी दे दिया है। नौकर यहीं रहेगा। हो सके तो तुम आकर पत्नी के पास रहो।"

यह तार दे वह बंगले पर लौटा, नौकर को इशारे से बुलाया। एक सूटकेस में आवश्यक कपड़े ले उसने नौकर को विश्वास दिलाया कि दो दिन के लिए बाहर जा रहा है। सोम को दी हुई तार की नकल अपने जाने के बाद नीता को दिखाने के लिए दे दी और हिदायत की—"बीबी जी को किसी तरह का भी कष्ट न हो!"

बनारस में जयराज को रानीखेत से लिखा सोम का पत्र मिला। सोम ने मित्र की माता के स्वास्थ्य के लिए चिन्ता प्रकट की थी और लिखा था कि हाईकोर्ट में अवकाश हो गया है। वह रानीखेत पहुँच गया है। वह और नीता उसके लौट आने की प्रतीक्षा उत्सुकता से कर रहे हैं।

जयराज ने उत्तर में सोम को धन्यवाद देकर लिखा कि वह मकान और नौकर को अपना ही समझकर निःसंकोच वहाँ रहे। वह स्वयं अनेक कारणों से जल्दी नहीं लौट सकेगा। सोम बार-बार पत्र लिखकर जयराज को बुलाता रहा परन्तु जयराज रानीखेत न लौटा। आखिर सोम मकान और सामान नौकर को सहेज, नीता के साथ इलाहाबाद लौट गया। यह समाचार मिलने पर जयराज ने नौकर को सामान सहित बनारस बुलवा लिया।

जयराज के जीवन में सूनेपन की शिकायत का स्थान अब सौन्दर्य के धोखे के प्रति ग्लानि ने ले लिया। जीवन की विरूपता और बीभत्सता का आतंक उसके मन पर छा गया। नीता का रोग से पीड़ित, बोझिल, कराहता हुआ रूप उसकी आँखों के सामने से कभी न हटने की जिद कर रहा था। मस्तिष्क में समाई हुई ग्लानि से छुटकारा पाने का दृढ़ निश्चय कर वह सीधा कश्मीर पहुँचा। फिर बरफानी चोटियों के बीच, कमल के फूलों से घिरी नीली डल झील में शिकारे पर बैठ उसने सौन्दर्य के प्रति अनुराग पैदा करना चाहा। पुरी और केरल में समुद्र के किनारे जा उसने चांदनी रात में ज्वार-भाटे का दृश्य देखा। जीवन के संघर्ष से गूँजते नगरों में उसने अपने-आपको भुला देना चाहा, परन्तु मस्तिष्क में

भरे हुए नारी की विरूपता के यथार्थ ने उसका पीछा न छोड़ा। वह बनारस लौट आया और अपने ऊपर किए गए अत्याचार का बदला लेने के लिए रंग और कूची लेकर कैनवेस के सामने जा खड़ा हुआ।

जयराज ने एक चित्र बनाया, पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेट फूला हुआ था, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराहट में खुलकर मुड़े हुए होंठ, हाथ-पांव पीड़ा से ऐंठे हुए।

जयराज यह चित्र पूरा कर ही रहा था कि उसे सोम का पत्र मिला। सोम ने अपने पुत्र के नामकरण की तारीख बताकर बहुत ही प्रबल अनुरोध किया था कि उस अवसर पर उसे अवश्य ही इलाहाबाद आना पड़ेगा। जयराज ने झुंझलाहट में पत्र को मोड़कर फेंक दिया फिर औचित्य के विचार से एक पोस्ट-कार्ड लिख डाला—"धन्यवाद, शुभकामना और बधाई। आता तो ज़रूर परन्तु इस समय स्वयं मेरी तबियत ठीक नहीं। शिशु को आशीर्वाद।"

सोम और नीता को अपने सम्मानित और कृपालु मित्र का पोस्टकार्ड शनिवार को मिला। रविवार वे दोनों सुबह की गाड़ी से बनारस जयराज के मकान पर जा पहुँचे। नौकर उन्हें सीधे जयराज के चित्र बनाने के कमरे में ही ले गया। वह नया चित्र सबसे आगे अभी चित्र बनाने की टिकटी पर ही चढ़ा हुआ था। सोम और नीता की आँखें उस चित्र पर पड़ीं और वहीं जम गईं।

जयराज अपराध की लज्जा से गड़ा जा रहा था। बहुत देर तक उसे अपने अतिथियों की ओर देखने का साहस ही न हुआ और जब देखा तो नीता गोद में किलकते बच्चे को एक हाथ से कठिनता से संभाले, दूसरे हाथ से साड़ी का आँचल होंठों पर रखे अपनी मुस्कराहट छिपाने की चेष्टा कर रही थी। उसकी आँखें गर्व और हँसी से तारों की तरह चमक रही थीं। लज्जा और पुलक की मिलावट से उसका चेहरा सिंदूरी हो रहा था।

जयराज के सामने खड़ी नीता, रानीखेत में नीता को देखने से पहले और उसके सम्बन्ध में बनाई कल्पनाओं से कहीं अधिक सुन्दर थी। जयराज के मन को एक धक्का लगा—'ओह धोखा!' और उसका मन फिर धोखे की ग्लानि से भर गया।

जयराज ने उस चित्र को नष्ट कर देने के लिए समीप पड़ी छुरी हाथ में उठा ली। उसी समय नीता का पुलक-भरा शब्द सुनाई दिया—"इस चित्र का शीर्षक आप क्या रखेंगे?"

जयराज का हाथ रुक गया। वह नीता के चेहरे पर गर्व और अभिमान के भाव को देखता स्तब्ध खड़ा था।

कलाकार को अपने इस बहुत ही उत्कृष्ट चित्र के लिए कोई शीर्षक न खोज सकते देख नीता ने अपने बालक को अभिमान से आगे बढ़ा, मुस्कराकर सुझाया "इस चित्र का शीर्षक रखिए 'सृजन की पीड़ा'!"

सच बोलने की भूल

शरत् के आरम्भ में दफ्तर से दो मास की छुट्टी ले ली थी। स्वास्थ्य सुधार के लिए पहाड़ी प्रदेश में चला गया था। पत्नी और बेटी भी साथ थीं। बेटी की आयु तब सात वर्ष की थी। उस प्रदेश में बहुत छोटे-छोटे पड़ाव हैं। एक खच्चर किराये पर ले लिया था। असबाब खच्चर पर लाद लेते थे और तीनों हँसते-बोलते, पड़ाव-पड़ाव पैदल यात्रा कर रहे थे। कोई स्थान अधिक सुहावना लग जाता तो वहाँ दो रात ठहर जाते।

एक पड़ाव पर हम लोग डाक-बंगले में ठहरे हुए थे। वह बंगला छोटी-सी पहाड़ी के पूर्वी आँचल में है। बंगले के चौकीदार ने बताया—"साहब लोग आते हैं तो चोटी से सूर्यास्त का दृश्य ज़रूर देखते हैं।" चौकीदार ने बता दिया कि बंगले के बिल्कुल सामने से ही जंगलाती सड़क पहाड़ी तक जाती है।

पत्नी सुबह आठ मील पैदल चल चुकी थी। उसे सन्ध्या को फिर पैदल तीन मील चढ़ाई पर जाने और लौटने का उत्साह अनुभव न हुआ परन्तु बेटी साथ चलने के लिए मचल गई।

चौकीदार ने आश्वासन दिया—"लगभग डेढ़ मील सीधी सड़क है और फिर पहाड़ी पर अच्छी साफ पगडण्डी है। जंगली जानवर इधर नहीं हैं। सूर्यास्त के बाद कभी-कभी छोटी जाति के भेड़िये जंगल में निकल आते हैं। भेड़िये भेड़-बकरी के मेमने या मुर्गियाँ उठा ले जाते हैं, आदमियों के समीप नहीं आते।"

मैं बेटी को साथ लेकर सूर्यास्त से तीन घंटे पूर्व ही, चोटी की ओर चल पड़ा। सावधानी के लिए टार्च साथ ले ली। पहाड़ी तक डेढ़ मील रास्ता बहुत सीधा-साफ था। चढ़ाई भी अधिक नहीं थी। पगडंडी से चोटी तक चढ़ने में भी कुछ कठिनाई नहीं हुई।

पहाड़ की चोटी पर पहुँचकर पश्चिम की ओर बर्फानी पहाड़ों की श्रृंखलाएं फैली दिखाई दीं। क्षितिज पर उतरता सूर्य बरफ से ढंकी पहाड़ी की रीढ़ को छूने लगा तो ऊँची-नीची, आगे-पीछे खड़ी हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाएं अनेक इन्द्रधनुषों के समान झलमलाने लगीं। हिम के स्फटिक कणों की चादरों पर रंगों के खिलवाड़ से मन उमग-उमग उठता था। बच्ची उल्लास से किलक-किलक उठती थी।

सूर्यास्त के दृश्य का सम्मोहन बहुत प्रबल था परन्तु ध्यान भी था—रास्ता दिखाई देने योग्य प्रकाश में ही डाक-बंगले को जाती जंगलाती सड़क पर पहुँच जाना उचित है। अंधेरे में असुविधा हो सकती है।

सूर्य आग की बड़ी थाली के समान लग रहा था। वह थाली बरफ की शूली पर, अपने किनारे पर खड़ी वेग से घूम रही थी। आग की थाली का शनैः-शनैः बरफ के कंगूरों की ओट में सरकते जाना बहुत ही मनोहारी लग रहा था। हिम के असम विस्तार पर प्रतिक्षण रंग बदल रहे थे। बच्ची उस दृश्य को विस्मय से मुँह खोले अपलक देख रही थी। दुलार से

समझाने पर भी वह पूरे सूर्य के पहाड़ी की ओट में हो जाने से पहले लौटने के लिए तैयार नहीं हुई।

सहसा सूर्यास्त होते ही चोटी की बरफ पर श्यामल नीलिमा फैल गई। पहाड़ी की चोटी पर अब भी प्रकाश था पर हम ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर नीचे उतर रहे थे, अंधेरा घना होता जा रहा था। आपको भी अनुभव होगा कि पहाड़ों में सूर्यास्त का झुटपुट उजाला बहुत देर तक नहीं बना रहता। सूर्य के पहाड़ की ओट में होते ही उपत्यका में सहसा अंधेरा हो जाता है।

मैं पगडंडी पर बच्ची को आगे किए पहाड़ी से उतर रहा था। अब धुंधलका हो जाने के कारण स्थान-स्थान पर कई पगडंडियाँ निकलती-फटती जान पड़ती थीं। हम स्मृति के अनुभव से अपनी पगडंडी पहचानकर नीचे जिस रास्ते पर उतरे, वह डाक-बंगले की पहचानी हुई जंगलाती सड़क नहीं जान पड़ी। अंधेरा हो गया था। रास्ता खोजने के लिए चोटी की ओर चढ़ते तो अंधेरे में अधिक भटक जाने की आशंका थी। हम अनुमान से पूर्व की ओर जाती पगडंडी पर चल पड़े।

जंगल में घुप्प अंधेरा था। टार्च से प्रकाश का जो गोला-सा पगडंडी पर बनता था, उससे कंटीले झाड़ों और ठोकर से बचने के लिए तो सहायता मिल सकती थी परन्तु मार्ग नहीं ढूँढ़ा जा सकता था। चौकीदार ने आँचल में आस-पास काफी बस्ती होने का आश्वासन दिया था। सोचा—'समीप ही कोई बस्ती या झोंपड़ी मिल जाएगी, रास्ता पूछ लेंगे।'

हम टार्च के प्रकाश में झाड़ियों से बचते पगडंडी पर चले जा रहे थे। बीस-पचीस मिनट चलने के बाद हमारा रास्ता काटती हुई एक अधिक चौड़ी पगडंडी दिखाई दे गई। सामने एक के बजाय तीन मार्ग देखकर दुविधा और घबराहट हुई, ठीक मार्ग कौन-सा होगा? अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने की अपेक्षा भटकाव का ही अवसर अधिक हो गया था। घना अंधेरा, जंगल में रास्ता जान सकने का कोई उपाय नहीं था। आकाश में तारे उजले हो गए थे परन्तु मुझे तारों की स्थिति से दिशा पहचान सकने की समझ नहीं है। पूर्व दिशा दाईं ओर होने का अनुमान था इसलिए चौड़ी पगडंडी पर दाईं ओर चल दिए। आध घंटे तक चलने पर एक पगडंडी रास्ता काटती दिखाई दी। समझ लिया हम बहुत भटक गए हैं। मैंने सीधे सामने चलते जाना ही उचित समझा।

जंगल में अंधेरा घना था। उत्तरी वायु चल पड़ने से सर्दी भी काफी हो गई थी। अपनी घबराहट बच्ची से छिपाए था। भयभीत न हो जाए, इसलिए उसे बहलाने के लिए और उसे थकावट अनुभव न होने के लिए कहानी सुनाने लगा, परन्तु बहलाव थकावट को कितनी देर भुलाए रखता! बच्ची बहुत थक गई थी। वह चल नहीं पा रही थी। कुछ समय उसे शीघ्र ही बंगले पर पहुँच जाने का आश्वासन देकर उत्साहित किया और फिर उसे पीठ पर उठा लिया। वह मेरे कन्धे के ऊपर से मेरे सामने टार्च का प्रकाश डालती जा रही थी। मैं बच्ची के बोझ और थकावट से हाँफता हुआ अज्ञात मार्ग पर अज्ञात दिशा में चलता जा रहा था। मेरी पीठ पर बैठी बच्ची सर्दी से सिहर-सिहर उठती थी और मैं हाँफ-हाँफकर पसीना-पसीना हो रहा था। कुछ-कुछ समय बाद मैं दम लेने के लिए बच्ची को पगडंडी पर खड़ी करके घड़ी देख लेता था। अधिक रात न हो जाने के आश्वासन से कुछ साहस मिलता था।

हम अजाने जंगल के घने अंधेरे में ढाई घंटे तक चल चुके थे। मेरी घड़ी में साढ़े नौ बज गए तो मेरा मन बहुत घबराने लगा। बच्ची को कहानी सुनाकर बहलाना सम्भव न रहा। वह जंगल में भटक जाने के भय से मां को याद कर ठुसक-ठुसककर रोने लगी।

बंगले में अकेली घबराती पत्नी के विचार ने और भी व्याकुल कर दिया। मेरी टांगें थकावट से काँप रही थीं। सर्दी बहुत बढ़ गई थी। जंगल में वृक्ष के नीचे रात काट लेना संभव नहीं था। छोटे भेड़िये भी याद आ गए। वहाँ के लोग उन भेड़ियों से नहीं डरते थे, पर छोटी बच्ची साथ होने पर भेड़िये से भेंट की आशंका से मेरा रक्त जमा जा रहा था।

हम जंगल से निकलकर खेतों में पहुँचे तो दस बज चुके थे। कुछ खेत पार कर चुके तो तारों के प्रकाश में कुछ दूरी पर एक झोंपड़ी का आभास मिला। झोंपड़ी में प्रकाश नहीं था। बच्ची को पीठ पर उठाए फसल-भरे खेतों में से झोंपड़ी की ओर बढ़ने लगा। झोंपड़ी के कुत्ते ने हमारे उस ओर बढ़ने पर एतराज़ किया। कुत्ते की क्रोध-भरी ललकार से सान्त्वना ही मिली। विश्वास हो गया, झोंपड़ी सूनी नहीं थी।

पहाड़ों में वर्षा की अधिकता के कारण छतें ढालू बनाई जाती हैं। गरीब किसान ढालू छत के भीतर स्थान का उपयोग कर सकने के लिए अपनी झोंपड़ियों को दोतल्ला कर लेते हैं। मिट्टी की दीवारें, फूस की छत और चारों ओर कांटों की ऊँची बाड़। किसान लोग नीचे के तल्ले में अपने पशु बाँध लेते हैं और ऊपर के तल्ले में उनकी गृहस्थी रहती है।

मैं झोपड़ी के बाड़े के मोहरे पर पहुँचा तो कुत्ता मालिक को चेताने के लिए बहुत ज़ोर से भौंका। झोंपड़ी का दरवाज़ा और खिड़की बन्द थे। मेरे कई बार पुकारने और कुत्ते के बहुत उत्तेजना से भौंकने पर झोंपड़ी के ऊपर के भाग में छोटी-सी खिड़की खुली और झुंझलाहट की ललकार सुनाई दी, “कौन है, इतनी रात गए कौन आया है?”

झोंपड़ी के भीतर अंधेरे में से आती ललकार को उत्तर दिया—”मुसाफिर हूँ, रास्ता भटक गया हूँ। छोटी बच्ची साथ है। पड़ाव के डाक बंगले पर जाना चाहता हूँ।”

खिड़की से एक किसान ने सिर बाहर निकाला और क्रोध से फटकार दिया—”तुम शहरी हो न! तुम आवारा लोगों का देहात में क्या काम? चोरी-चकारी करने आए हो। भाग जाओ, नहीं तो काटकर दो टुकड़े कर देंगे और कुत्तों को खिला देंगे।”

किसान को अपनी और बच्ची की दयनीय अवस्था दिखलाने के लिए अपने ऊपर टार्च से प्रकाश डाला और विनती की—”बाल-बच्चेदार गृहस्थ हूँ। चोटी पर सूर्यास्त देखने गए थे, भटक गए। पड़ाव के बंगले में बच्ची की मां हमारी प्रतीक्षा कर रही है, बंगले का चौकीदार बता देगा। पड़ाव के डाक बंगले पर जाना चाहता हूँ। रास्ता दिखाकर पहुँचा दो तो बहुत कृपा हो। तुम्हें कष्ट तो होगा, यथाशक्ति मूल्य चुका दूँगा।”

किसान और भी क्रोध से झल्लाया, “पड़ाव और डाक बंगला तो यहाँ से सात मील है। कौन तुम्हारे बाप का नौकर है जो इस अंधेरे में रास्ता दिखाने जाएगा। भाग जाओ यहाँ से, नहीं तो कुत्ते को अभी छोड़ता हूँ।”

क्रुद्ध किसान मुझे झोंपड़ी की खिड़की से भाग जाने के लिए ललकार रहा था तो झोंपड़ी के ऊपर के भाग में दीया जल जाने से प्रकाश हो गया था और वह दीया खिड़की की ओर बढ़ आया था। दीये के प्रकाश में किसान की छोटी घुंघराली दाढ़ी और लम्बी-लम्बी सामने झुकी हुई मूंछों से ढंका चेहरा बहुत भयानक और खूंखार लग रहा था। खिड़की की ओर दीया लाने वाली स्त्री थी।

किसान की बात सुनकर मेरे प्राण सूख गए। समझा कि अंधेरे में बहुत भटक गया हूँ। उस अंधेरे, सर्दी और थकान में बच्ची को उठाकर सात मील चल सकना मेरे लिए सम्भव नहीं था। बच्ची के कष्ट के विचार से और भी अधीर हो गया।

बहुत गिड़गिड़ाकर किसान से प्रार्थना की—”भाई, दया करो! मैं अकेला होता तो जैसे-तैसे जाड़े और ओस में भी रात काट लेता, परन्तु इस बच्ची का क्या होगा? हम पर

दया करो, हमें कहीं भीतर बैठ जाने-भर की ही जगह दे दो। उजाला होते ही हम चले जाएंगे।"

खिड़की के भीतर किसान के समीप आ बैठी औरत का चौड़ा चेहरा भी किसान की तरह बहुत रूखा और कठोर था, परन्तु उसकी बात से आश्वासन मिला। स्त्री बोली—"अच्छा, अच्छा! उसके साथ बच्ची है। इस समय पड़ाव तक कैसे जाएगा? आने दो, कुछ हो ही जाएगा।"

किसान स्त्री पर झुंझलाया—"क्या हो जाएगा, कहाँ टिका लेगी इन्हें? शहर के लोग हैं, इनकी मेहमानदारी हमारे बस की नहीं!"

स्त्री ने उत्तर दिया—"अच्छा-अच्छा, नीचे जाकर कुत्ते को पकड़ो, उन्हें आने तो दो!"

किसान ने नीचे आकर झोंपड़ी का दरवाज़ा खोला। कुत्ते को डांटकर चुप करा दिया और हमारे लिए बाड़े का मोहरा खोल दिया। स्त्री भी हाथ में दीया लिये नीचे आ गई थी। किसान और कुत्ता स्त्री के विरोध में असन्तोष से गुर्राते जा रहे थे। किसान बोलता जा रहा था—"बड़े शौकीन नवाब हैं सैर करनेवाले। चले आए आधी रात में रास्ता भूलकर। कहाँ टिका लेगी तू इनको?"

स्त्री ने पति को समझाया—"बेचारे भटककर परेशानी में आ गए हैं तो कुछ करना ही होगा। आने दो, ये लोग ऊपर लेट रहेंगे। हम लोग यहाँ नीचे फूस डालकर गुज़ारा कर लेंगे।"

किसान बड़बड़ाया—"हम नीचे कहाँ पड़े रहेंगे? गैया को बाहर निकाल देगी कि मुर्गी को बाहर फेंक देगी?"

झोंपड़ी के दरवाज़े में कदम रखते समय मैंने टार्च से उजाला कर लिया कि ठोकर न लगे। कोठरी के भीतर दीवार के साथ एक गैया जुगाली कर रही थी। टार्च का प्रकाश आँखों पर पड़ा तो गैया ने सिर हिला दिया और अपने विश्राम में विघ्न के विरोध में फुंकार दिया। दूसरी दीवार के समीप उल्टी रखी ऊँची टोकरी के नीचे से भी विरोध में मुर्गी की कुड़कुड़ाहट सुनाई दी। स्त्री ने हाथ में लिये दीये से दीवार के साथ बने जीने पर प्रकाश डालकर कहा—"हम गरीबों के घर ऐसे ही होते हैं। बच्ची को हाथ पकड़कर ऊपर ले आओ! मैं रोशनी ले चलती हूँ।"

किसान असन्तोष से बड़बड़ाता रहा। झोंपड़ी के ऊपर के तल्ले में छत बहुत नीची थी। दोनों ओर ढलती छत बीच में धन्नी पर उठी थी। धन्नी के ठीक नीचे भी गर्दन सीधी करके खड़े होना सम्भव नहीं था। नीचे और संकरी खाट पर गन्दे गूदड़-सा बिस्तर था। स्त्री ने बिस्तर की ओर संकेत किया—"तुम यहाँ लेट रहो। हम नीचे गुज़ारा कर लेंगे।"

स्त्री ने कोने में रखे कनस्तरों और सूखी हाँडियों में टटोलकर गुड़ का एक टुकड़ा मेरी ओर बढ़ाकर कहा—"बच्ची को खिलाकर पानी पिला दो!" उसने कोने में रखे घड़े से एक लोटा जल खाट के समीप रख दिया।

स्त्री दीया उठाकर ज़ीने की ओर बढ़ती हुई बोली—"क्या करूँ, इस समय घर में आटा भी नहीं है। सांझ को ही चुक गया। सुबह ही पनचक्की पर जाना होगा।"

स्त्री ज़ीने की ओर बढ़ती हुई ठिठक गई। विस्मय में भवें उठाकर बोली—"हैं! इतनी-सी लड़की के गले में मोतियों की कंठी!" उसका स्वर कुछ भीग गया—"हम कुछ करें भी किसके लिए? लड़का-लड़की घर पर थे तब कुछ हौसला रहता था। लड़की सियानी होकर अपने घर चली गई। लड़के को शहर का चस्का लगा है। दो बरस से उसका कुछ

पता नहीं। जहाँ हो ...हे देवी माता, लोग उसको भी शरण दें।"

स्त्री नीचे उतर गई। तब भी असन्तुष्ट किसान के बड़बड़ाने की और कुछ उठाने-धरने की आहट आती रही।

बच्ची थोड़ा गुड़ खाकर और जल पीकर तुरन्त सो गई। मुझे गंधाते, गन्दे बिस्तर से उबकाई अनुभव हो रही थी। अपनी असुविधा की चिन्ता से अधिक चिन्ता थी—डाक बंगले में हमारी प्रतीक्षा में असहाय पत्नी की। हम दोनों के न लौट सकने के कारण वह कैसे बिलख रही होगी। कहीं यही न सोच बैठी हो कि हम भेड़ियों या आततायियों के हाथ पड़ गए हैं। हमें खोजने के लिए डाक बंगले के चपरासी को लेकर चोटी की ओर न चल पड़ी हो...।

मस्तिष्क में चिन्ता की वेदना और पीठ थकान से इतनी अकड़ी हुई थी कि करवट लेने में दर्द अनुभव होता था। झपकी आती तो पीठ के दर्द और बिस्तर की असुविधा के कारण टूट जाती। करवटें बदलता सोच रहा था—'रास्ता दिखाई देने योग्य उजाला हो तो उठकर चल दें।'

खिड़की की सांधों से पौ फटती-सी जान पड़ी। सोचा—"ज़रा उजाला और हो जाए। नीचे सोए लोगों की नींद में विघ्न न डालने का भी ध्यान था। एक झपकी और ले लेना चाहता था कि नीचे से दबी-दबी फुसफुसाहट सुनाई दी।

मर्द कह रहा था—"...बहुत थके हुए हैं। सूरज बांस-भर चढ़ जाएगा तब भी उनकी नींद नहीं टूटेगी।"

स्त्री सांस के स्वर में बोली—"तुम्हें उन्हें जगा के क्या लेना है?... नहीं उठते तो मैं जाऊँ?"

"अच्छा जाता हूँ!"

"आह! संभलकर...। आहट न करो।... गर्दन ऐसे दबा देना कि आवाज़ न निकले।... चीख न पड़े। छुरा ताक में है।"

स्त्री-पुरुष का परामर्श सुनकर मेरे रोम-रोम से पसीना छूट गया। हत्यारों से शरण माँगकर उनके पिंजड़े में बन्द हो गया था। सोचा—'पुकारकर कह दूं... मेरे पास जो कुछ है ले लो, लड़की के गले की कंठी ले लो और हमारी जान बख्शो।'

फिर मर्द की आवाज़ सुनाई दी—'बेचारी को रहने दूँ, मन नहीं करता।"

स्त्री बोली—"उंह, मन न करने की क्या बात है! उसे रहने देकर क्या होगा! कहाँ बचाते-छिपाते फिरोगे?"

मैंने आतंक से नींद में बेसुध बच्ची को बाँहों में ले लिया। भय की उत्तेजना से मेरा हृदय धक-धक कर रहा था। सोचा—उन्हें स्वयं ही पुकारकर, गिड़गिड़ाकर प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना करूँ, परन्तु गले ने साथ न दिया। यह भी खयाल आया कि वे जान लेंगे कि मैंने उनकी बात सुन ली है तो कभी छोड़ेंगे ही नहीं। अभी तो वे बात कर रहे हैं। भगवान उनके हृदय में दया दे। सोचा—'यदि किसान के ऊपर आते ही मैं उसे धक्के से नीचे गिराकर चीख पड़ूं! ... पर जाने आस-पास मील-दो मील तक कोई दूसरे लोग भी हैं या नहीं!'

सहसा दबे हुए गले से मुर्गी के कुड़कुड़ाने की आवाज़ आई। स्त्री का उपालम्भ-भरा स्वर सुनाई दिया—"देखो, कहा भी था कि संभलकर गर्दन पर हाथ डालना।"

ओह! यह तो मुर्गी के काटे जाने की मन्त्रणा थी। अपने भय के लिए लज्जा से पानी-पानी हो गया।

स्त्री का स्वर फिर सुनाई दिया—"मुर्गी के लिए इतना क्यों बिगड़ रहे हो? शहर के बड़े लोगों की बातें होती हैं। खातिर से खुश हो जाएं तो बख्शीश में जो चाहे दे जाएं। मामूली आदमी नहीं हैं। लड़की के गले में मोतियों की कंठी नहीं देखी?"

दूसरी चिन्ता और लज्जा ने मस्तिष्क को दबा लिया। उस समय मेरी जेब में केवल ढाई रुपये थे। बंगले से सूर्यास्त का दृश्य देखने आया था, बाज़ार में खरीदारी करने के लिए नहीं। लड़की के गले में कंठी नकली मोतियों की, रुपये-सवा रुपये की थी। दीये के उजाले में देहाती कंठी को क्या परख सकते थे? बहुत दुविधा में सोच रहा था—'इन लोगों को क्या उत्तर दूँगा। कुछ बताए बिना चुपचाप ही कंठी दे जाऊँ। बाद में चालीस-पचास रुपये मनीआर्डर से भेज दूँगा।'

खिड़की की सांधों से काफी सवेरा हो गया जान पड़ा। सोच ही रहा था, लड़की को जगाकर नीचे ले चलूं कि ज़ीने पर कदमों की चाप सुनाई दी और किसान का चेहरा ऊपर उठता दिखाई दिया।

किसान का चेहरा रात की भांति निर्दय और डरावना न लगा। वह मुस्कराया—"नींद खुल गई! मैं तो जगाने के लिए आ रहा था। धूप हो जाने पर बच्ची को इतनी दूर ले जाने में परेशानी होगी।" किसान ने पुराने अखबार में लिपटी एक बड़ी-सी पुड़िया मेरी ओर बढ़ा दी और बोला—"यह लो, ये तुम्हारे ही भाग्य के थे। घर में आटा भी नहीं था, जो दो रोटी बना देते, इसीलिए मैं तुम्हें रात में ही हाँके दे रहा था, पर घरवाली को बच्ची पर तरस आ गया। खेती के लिए ज़मीन ही कितनी है! अण्डे बेचकर ही गुज़ारा करते हैं। बरसात के अन्त में पापी पड़ोसी लोगों की मुर्गियों में बीमारी फैली तो हमारी मुर्गियाँ भी मर गईं। मुर्गियाँ बचाने के लिए सभी कुछ किया। पीर की दरगाह पर दीये जलाए। मुर्गियों को ढेरों लहसुन खिलाया, सरकारी अस्पताल से दवाई भी लाकर दी पर उनका काल आ गया था, बची नहीं। हाँ, यह मुर्गा बड़े जीवट का था। बीमारी झेलकर भी बच गया था। उसके लिए तुम आ गए। एक छोटी-सी मुर्गी काल की आँख से बचकर छिप रही थी, वह बच्ची के लिए हो जाएगी। इस समय तुम्हारा तो काम चले, हमारा देखा जाएगा।"

किसान ने पुड़िया मेरे हाथ में दे दी और बोला—"रात के भूखे हो, चाहो तो नीचे चलकर कुल्ला करके हाथ-मुँह धो लो और अभी खा लो। मन चाहे तो रास्ते में खा लेना।"

बच्ची को उठाया। उसने उठते ही भूख से व्याकुलता प्रकट की। दोनों ने अखबार की पुड़िया खोलकर नाश्ता कर लिया।

पेट-भर नाश्ता करके मैं संकोच से मरा जा रहा था। किसान और उसकी स्त्री ने बहुत आशा से हमारी खातिर की थी। अपने अन्तिम मुर्गा, चूज़ा भी हमारे लिए काट दिए थे। मैंने संकोच से कहा—"इस समय मेरी जेब में कुछ है नहीं, केवल ढाई रुपये हैं। अपना नाम-पता दे दो, मनीआर्डर से रुपये भेज दूँगा।" मैंने बच्ची के गले से कंठी उतारकर स्त्री की ओर बढ़ा दी—"चाहो तो रख लो!"

स्त्री कंठी हाथ में लेकर प्रसन्नता से किलक उठी—"हाय, इसे तो मैं मठ में चढ़ाकर मानता मानूंगी। हमारी मुर्गियों पर देवताओं की कोपदृष्टि कभी न हो।"

स्त्री की सरलता मेरे मन को छू गई, रह न सका। कह दिया—"तुम्हें धोखा नहीं देना चाहता, कंठी के मोती नकली हैं।"

स्त्री ने कंठी मेरी ओर फेंक दी। घृणा और झुंझलाहट से उंगलियाँ छिटकाकर बोली—"रखो, इसे तुम्हीं रखो। शहर के लोगों से धोखे के सिवाय और मिलेगा क्या?"

किसान ठगे जाने से क्रुद्ध हो गया था, वह डाक बंगले का रास्ता बताने के लिए साथ

न चला। दिन का उजाला था। हम राह पूछ-पूछकर बंगले पर पहुँच गए।

पत्नी डाक बंगले के सामने अस्त-व्यस्त और विक्षिप्त की तरह धरती पर बैठी दिखाई दी। उसका चेहरा ओस से भीगे सूखे पत्ते की तरह आंसुओं से तर और पीला था। आँखें गुड़हल के फूल की तरह लाल थीं। वह बच्ची को कलेजे पर दबाकर चीखकर रोई और फिर मुझसे चिपट-चिपटकर रोती रही।

पत्नी के संभल जाने पर मैंने उसे रात के अनुभव सुना दिए। रात मेरे और बच्ची के असहाय अवस्था में गला काट दिए जाने के काल्पनिक भय में पसीना-पसीना होकर काँपने की बात सुनकर उसने भी भय प्रकट किया—'हाय मैं मर गई।'

पत्नी को बच्ची की कंठी के लिए किसान स्त्री के लोभ और कंठी के विषय में सच्चाई जानकर उनके खिन्न हो जाने की बात भी बता दी।

पत्नी ने मुझे उलाहना दिया—"उन देहातियों को कंठी के बारे में बता खिन्न करने की क्या ज़रूरत थी? कंठी मठ में चढ़ाकर उनकी भावना सन्तुष्ट हो जाती।"

सोचा—'किस भूल के लिए अधिक लज्जा अनुभव करूँ—काल्पनिक भय में पसीना-पसीना हो जाने की भूल के लिए या सच बोल देने की भूल के लिए।'

खच्चर और आदमी

पूरण के जीवन के 23 वर्ष दिल्ली और उसके आस-पास ही बीते थे। कभी पहाड़ पर जाने का अवसर नहीं हुआ था। हिमपात देख सकने के लिए उत्कट उत्सुकता से पहली बार शिमला गया था। वहाँ कभी-कभी अच्छी बरफ पड़ जाती है। दो दिन, रात में अनेक बार ज़ोर का हिमपात हो गया। डेढ़-दो फुट बरफ गिर जाने पर हिमपात रुककर हवा चलने लगी। पूरण का मन हिमदर्शन से अघा गया। वह बर्फ में जूता धंसाकर चलने, बर्फ हाथों में उठा उसके गोले बनाकर फेंकने के कौतूहल के स्थान पर शीत से सिहरन अनुभव करने लगा। शीत, चमड़े के कोट को भी बेधकर उसे कंपा देता था। उसे बर्फ में घूमने की इच्छा न रही।

भार्गव ने मित्र के स्वागत में कमरा गरम करने के लिए बिजली के हीटर के स्थान पर दीवाल में बनी पुराने ढंग की अंगीठी में काठ के कुंदे सुलगवा दिए थे। खूब अच्छी लपटें उठ रही थीं। भार्गव ने सोफा अंगीठी के समीप खींच लिया। दोनों सोफे पर बैठ गए और सिगरेट सुलगा लिये। सम्मुख आग थी, शरीर पर पर्याप्त कपड़ा था परन्तु बर्फानी वायु में घूमते रहने से पूरण के शरीर में इतनी सर्दी रच गई थी कि आध घंटे तक आग के सामने बैठ लेने पर भी उसे झुरझुरी अनुभव हो जाती और मुख से निकल जाता—ओफ भयंकर सर्दी है।

"यहाँ सर्दी है। अच्छा-भला गरम कमरा है।" भार्गव ने उपेक्षा से कह दिया—"तुम्हें अभ्यास नहीं है वरना शिमला में अधिक सर्दी नहीं होती।"

भार्गव गत पांच वर्षों से हेमन्त शिमला में ही बिताता है। वह भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के खनिज अनुसन्धान दल में है। इस दल के लोगों को वर्ष में छः मास समुद्र तल से बीस हज़ार फुट ऊँचे हिमरुद्ध स्थानों में खोजकार्य करना होता है। केवल सात हज़ार फुट ऊँचे शिमला की सर्दी उनके लिए क्या चीज़!

"माई गाड!" पूरण ने आतंक प्रकट किया—"यह कम सर्दी है! और सर्दी होगी?" पूरण ने सर्दी के सम्बन्ध में भार्गव के विचित्र अनुभव सुनने के लिए उसे उकसाया कि उन अनुभवों की तुलना में स्वयं अनुभव होती सर्दी को भुला सके।

भार्गव ने मित्र का अभिप्राय समझकर उत्तर दिया—"कष्टदायक सर्दी होती है, बारह हज़ार फुट से ऊपर। जहाँ धरती पर और चारों ओर मोटी बर्फ हो, कई दिन तक धूप न मिले, विशेषकर जब गरमी पा सकने के लिए ईंधन भी पास न हो। न खाना गरम किया जा सके, न गरम कॉफी-चाय मिल सके। ऐसे समय प्राण आग की चिनगारी और लौ के लिए तरस जाते हैं।"

"क्या तुम्हें भी कभी ऐसा अनुभव हुआ!" पूरण के नेत्र उत्सुकता से फैल गए।

"केवल एक बार, सोलह दिन तक।"

"प्लीज़! कैसे, ज़रूर बताओ!"

भार्गव ने सुविधा के लिए पूरण की ओर करवट ले ली—"हमारे दल के उस अनुभव का कुछ समाचार तो पत्रों में भी प्रकाशित हुआ था। अरे वही लाहौल घाटी की दुर्घटना। अप्रत्याशित या मौसम के अनुमान की रिपोर्ट के विरुद्ध भयंकर हिमपात घाटी के ऊपरी भाग में हो गया और हम लोग फँस गये। उस प्रदेश के लिए चौबीस घंटे में होनेवाले मौसम की सूचना ब्राडकास्ट की जाती है मनाली से। मनाली है समुद्र-तट से पांच-छः हज़ार फुट की ऊँचाई पर। हमें विश्लेषण के लिए नमूने लेने थे बारह हज़ार फुट की ऊँचाई पर चट्टानें फोड़कर। हमारा कूच का पड़ाव दस हज़ार फुट पर था। लक्ष्य तक रास्ता पांच मील से अधिक न था। सदा बर्फ से ढकी रहने वाली चौदह हज़ार फुट ऊँची एक धार को ही लांघना था। धार को लांघने के लिए केवल एक दर्रा है, वह भी तेरह हज़ार फुट नीचे एक बहुत छोटा-सा मैदान है। वहाँ आयुध महत्त्व (Strategic Importance) के एक पदार्थ के अनुमान में बरमा चलाने का विचार था...।"

"वह पदार्थ मिला?" पूरण टोक बैठा।

"नहीं, तीन वर्ष पूर्व वहाँ फिर यत्न किया गया था। वह अनुमान ठीक न था।" भार्गव सिगरेट सुलगाने लगा।

"खैर, अपना अनुभव सुनाओ।"

भार्गव लम्बा कश लेकर बोला—"विचार था, धार के पार मैदान में सात-आठ दिन से अधिक ठहरना आवश्यक न होगा। कूच-पड़ाव के लोगों ने सलाह दी—खच्चरों के लिए ऊपर घास-दाना ले जाना ज़रूरी नहीं है। वहाँ इस मौसम में पशुओं के लिए बहुत अच्छी पौष्टिक घास मिलेगी। ज़रूरी समझें तो थोड़ा-बहुत दाना उनके लिए ले जाइए। विकट चढ़ाइयों पर बोझा ढोने से बचने का प्रलोभन भी रहता है।

"नये स्थान पर सूर्यास्त से जितना पूर्व पहुँचा जा सके अच्छा रहता है। सूर्य का प्रकाश रहते स्थान को समझने और अनुकूल बना लेने में सुविधा रहती है। ग्रुप लीडर ने तड़के कुछ अंधेरा रहते नाश्ता दिलवा दिया। यन्त्र, राशन और तम्बू छः खच्चरों पर लदवा दिए और हम दस शेरपाओं को साथ ले, पौ फटते-फटते चल पड़े। खच्चरों के लिए दाना नौ-दस बजे तक मिलना था। शेरपाओं का मुखिया अपने शेष छः खच्चरों के साथ पीछे रह गया कि दाना मिल जाने पर बड़ी बरमा मशीन और मशीनों के लिए ईंधन लेकर हमारे पीछे आ जाएगा।

"हमने धार का संकरा दर्रा साढ़े ग्यारह बजे पार कर लिया। मौसम फोरकास्ट ने उत्तर-पश्चिम में आकाश साफ रहने का आश्वासन दिया था। स्थानीय लोगों को भी दो-तीन सप्ताह तक बर्फ-पानी की आशंका नहीं थी, परन्तु हम दर्रे के मैदान में उतर ही पाये थे कि उत्तर-पश्चिम की ओर से घने, काले बादल उमड़ने लगे। बादलों ने इतना ही अवसर दिया कि हम मैदान के किनारे ऊँचा स्थान देखकर तम्बू लगा लें। यदि हम खूंटे गाड़ने और तम्बू खड़े करने में शेरपाओं का हाथ न बंटाते तो तम्बू भी न लग पाते। हमारे तम्बू लग ही पाए थे कि भयंकर कड़क से ओले बरसने लगे। ओले इतनी तेज़ी से और इतने परिमाण से गिरे कि दस मिनट में घनी ऊँची घास से ढका मैदान चांदी का विराट् थाल-सा बन गया। ओले धार की ढलवानों और ऊपर पर्दे में भी गिरे थे। हमें आशंका हुई, ओले यदि धार के उस ओर न गिरे होंगे तो भी पीछे आते शेरपाओं और खच्चरों के लिए दर्रा लांघना और मैदान तक उतरना दुस्साध्य हो गया होगा। कुछ-कुछ देर रुककर ओलों की उससे भी भारी-भारी बौछार संन्ध्या तक आती रही। समझ लिया, मेट मेस पार्टी को लेकर दर्रे तक आया भी

होगा तो उसे लौट जाना पड़ा होगा।

“नीचे पड़ाव के लोगों की सूचना गलत नहीं थी। हमारे पहुँचने पर मैदान में बढ़िया घास मौजूद थी परन्तु अब उसे ओलों की छः-सात इंच मोटी तह ने दबा लिया था। हम चिन्तित थे, भूखे खच्चरों को क्या दें।

“सूर्यास्त के घंटे-भर बाद हम लोगों ने जमा हुआ पैराफीन जलाकर राशन गरम किया और खाकर सर्दी से बचने के लिए रज़ाई के थैलों में हो गए। भूखे खच्चर अपने तम्बू में हिनहिनाकर चारा माँग रहे थे। रात तम्बू पर बार-बार आहट से बर्फ गिरने का अनुमान होता रहा। सुबह उठकर देखा, रात में काफी बरफ पड़ती रही थी। मैदान में बल्लम गाड़ने पर डेढ़ फुट तक बर्फ में धंस जाता था। मैदान के चारों ओर ढलवानों पर भी काफी बर्फ जम गई थी। धार के दर्रे में भी काफी बर्फ भर गई थी। खच्चर अपने तम्बू में और अधिक हिनहिनाकर भूख और सर्दी की शिकायत कर रहे थे। उनके तम्बू में कुछ गरमी कर सकने के लिए तेल और स्टोव भी नहीं थे। वह सुविधा तो हमारे लिए भी न थी। ईंधन बाद में आनेवाला था। ग्यारह हज़ार फुट ऊँचे धरातल पर ईंधन के लायक झाड़ियाँ या वृक्ष तो होते नहीं। आकाश में अब भी बर्फानी बादल अटे हुए थे। ऐसी स्थिति में क्या आशा होती कि शेरपाओं का मुखिया दाना और ईंधन लेकर आ जाएगा! दोपहर से पहले ही फिर बर्फ गिरने लगी और और कम-ज़्यादा सांझ तक गिरती रही। हम समय काटने के लिए चट्टानों पर से गिरी बर्फ को खुरचकर देखते रहे परन्तु काम तो कुछ हो नहीं सकता था। केवल सर्दी ही अनुभव कर रहे थे। खच्चरों की दयनीय अवस्था, उनकी चारा माँगती कातर दृष्टि और अपना असामर्थ्य मन को और खिन्न कर रहा था।

“रात में और बर्फ पड़ी। दूसरे दिन सुबह भी बार-बार बर्फ गिरती रही। मैदान की अपेक्षा धार की ऊँचाई पर और दर्रे में अधिक बर्फ गिर रही थी। दर्रा चौड़े भाले की नोक की तरह ऊपर से खुला और नीचे तंग था। स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि दर्रे की भीतर की ढलवानों से कच्ची बर्फ के तोंदे फिसल-फिसलकर दर्रे को भरते जा रहे थे। तीसरे दिन रज़ाई के थैले से निकलने को मन न चाहता था। उस ऊँचाई पर विरल वायु में मामूली हरकत से भी सांस फूलने लगती है। शरीर की शक्ति संजोए रखने का ध्यान रखना होता है।

“तीसरी रात भी बर्फ पड़ी और सुबह भी बादल बने रहे। सर्दी का क्या कहना! थर्मामीटर शून्य से पैंतालीस अंश नीचे था। पूरे कपड़े पहने, रज़ाई के थैले में लिपट, कुछ पढ़कर समय बिताने का यत्न किया परन्तु नाक बहती जा रही थी। सर्दी से कनपटियों में दर्द जान पड़ रहा था। आशंका हो गई कि नीचे से सहायता आने की बात तो दूर, लौट जाने की राह भी कम-से-कम चार-पांच दिन तक नहीं मिलेगी। खच्चरों की हिनहिनाहट सुनाई नहीं पड़ रही थी। उनकी गर्दनें लटक गई थीं। अधिक सर्दी में शारीरिक शक्ति के लिए अधिक खुराक और कैलोरीज़ की आवश्यकता होती है और खच्चर बेचारे कड़े परिश्रम के बाद से बिल्कुल निराहार थे। उस समय खच्चरों के तम्बू से विचित्र समाचार मिला कि एक खच्चर भूख से व्याकुल होकर दूसरे खच्चरों को काटने के लिए झपट रहा था और उसने अपने समीप के खच्चर का कान तोड़कर खा लिया था।”

“विचित्र!” पूरण ने टोका, “घोड़े-खच्चरों के मांसाहार की बात तो कभी नहीं सुनी!”

“कह तो रहा हूँ, विचित्र समाचार मिला!” भार्गव अवसर पाकर नया सिगरेट सुलगाने लगा।

पूरण हँस दिया, “अरे आप लोग अपने राशन में से ही बेचारे खच्चरों को कुछ दे

देते।”

“यानी, हमारी अपेक्षा खच्चरों की जान बहुमूल्य थी और हम सबके आठ दिन के राशन से एक खच्चर का पेट एक बार भी न भरता!”

भार्गव ने केवल हँसी में कहा।

“हाँ! पांचवीं रात बर्फ नहीं पड़ी परन्तु अगले दिन भी घने बादल रहने के कारण बर्फ गिरने की संभावना बनी थी। नाश्ते के समय हम लोग विचार कर रहे थे कि ऐसी परिस्थिति में प्राण-रक्षा के लिए क्या किया जा सकता है। खच्चरों के तम्बू के एक शेरपा ने आकर परेशानी प्रकट की—’कनकटा खच्चर लड़खड़ाकर गिर पड़ा है। खच्चर अभी ज़िन्दा है और उसका कान खा जानेवाला खच्चर उसे खाने के लिए लपक रहा है। उसे रोकते हैं तो वह हमें काटता है।’

“हम लोग विस्मय से देखने के लिए गए। शेरपा की बात ठीक थी। मांसाहारी बन जानेवाला खच्चर गिर जानेवाले खच्चर को खाने का यत्न कर रहा था। सोचा, जो खच्चर गिर पड़ा है उसे तो बचाया नहीं जा सकता, यदि दूसरा उससे अपना पेट भर सकता है तो भर ले।

“ग्रुप लीडर ने खच्चर के मांसाहारी बन जाने के प्रसंग पर विद्रूप करके कहा—’कहीं हम लोगों की भी ऐसी ही अवस्था न हो जाए!’

“साधारण नियम से हम लोगों के पास आवश्यकता से दूना राशन रहता है। हमारा राशन स्टाक सोलह दिन तक चल सकता था। ग्रुप लीडर ने आदेश दे दिया कि राशन इस तरह खर्च किया जाए कि कम-से-कम चार दिन और चल सके। पैराफीन भी कम जलाया जाए, सांझ की चाय बन्द कर दी जाए। इस खयाल से कि हमें कम खाने का ध्यान रखना है, सर्दी और निर्बलता अधिक अनुभव होने लगी।

“छठे दिन धूप निकल आई, परन्तु दर्रा बर्फ भर जाने के कारण अलंघ्य हो चुका था। एक दिन बाद एक और खच्चर भूख से लड़खड़ाकर गिर पड़ा। मांसाहारी बन जानेवाला खच्चर तब तक पहले खच्चर को समाप्त कर चुका था। वह मांसाहारी पशुओं—शेर-चीतों की तरह खच्चर के शरीर के पंजर को तो तोड़ नहीं सका था, ऊपर से जितना मांस खा सकता था, खा गया था। उसके लिए और आहार हो गया। आठवें दिन से शेष खच्चर गिरने लगे। मांसाहार अपना लेनेवाला खच्चर उनसे निर्वाह करता रहा। खच्चरों के शरीर भूख से सूख गए थे, उनमें मांस ही कितना था!

“छः दिन अच्छी धूप लग जाने से ढालों पर जगह-जगह बर्फ पिघल गई थी, परन्तु दर्रा अलंघ्य ही था और मैदान पर भी चार इंच गहरी तह मौजूद थी। दर्रे के दाहिने कुछ अन्तर पर स्थान शेष धार से नीचा था। हम लोग दूरबीनें लेकर उस स्थान के विषय में विचार कर रहे थे, इस बर्फ की थाली में भूख से जम जाने की अपेक्षा मुक्ति के प्रयत्न में ही मरना बेहतर होगा।

“गत सन्ध्या ओले का बादल फिर दिखाई दिया। गनीमत कि तेज़ हवा ने उसे उड़ा दिया परन्तु ऐसा बादल किसी समय भी बरस सकता था। मौसम के विचार से ऐसी आशंका प्रतिदिन बढ़ रही थी। उससे पहले एक वर्ष पूर्व हम सत्रह हज़ार फुट की ऊँचाई तक चढ़ चुके थे। धार चौदह हज़ार फुट ही थी, वह दुर्लंघ्य हो गई थी। बर्फ ताज़ी और कच्ची होने से ऐसे स्थानों पर खच्चर, या दूसरा पशु नहीं चढ़ सकता। वहाँ गति सम्भव है तो केवल मनुष्य की, क्योंकि मनुष्य केवल शारीरिक शक्ति से काम नहीं लेता, उसकी सामर्थ्य सोच सकने में भी होती है।

"हम लोगों ने ग्रुप लीडर के सामने प्रस्ताव रखा—'सम्भव है कूच-पड़ाव में लोगों ने हमें समाप्त मानकर हमारी खोज व्यर्थ समझ ली हो। यहाँ खच्चरों की तरह भूखे मर जाने से बेहतर है कि हम लोगों में से दो आदमी दर्रे के समीप, नीचे स्थान से धार लांघने का यत्न करें और उस ओर समाचार दें। वह स्थान सवा मील से दूर न होगा। यदि हम लोग तीन घंटे में धार के उस पार न हो सके तो लौट आएंगे।'

"ग्रुप लीडर ने प्रस्ताव स्वीकार न किया। वह इतने यत्न से सधाए हुए और विशेषज्ञ लोगों को यथासम्भव जोखिम में डालने के लिए तैयार न था। उसने हमें सुझाव दिया कि इस काम के लिए शेरपा लोगों को मुँह माँगे इनाम का आश्वासन देकर उत्साहित किया जाए। शेरपा हमें साथ लिये बिना चलने को तैयार न थे।

"ग्यारहवें दिन नया संकट खड़ा हो गया। मांसाहारी खच्चर मुर्दा खच्चरों को समाप्त कर चुका था। घास पर अब भी इंच-डेढ़ इंच कड़ी बर्फ की तह थी। मांसाहारी बन गया खच्चर अब भूख से व्याकुल होकर आदमियों पर झपट रहा था। शेरपाओं ने कहा कि उसे गोली मार दी जाए, वर्ना आदमियों को गिराकर खा जाएगा।

"ग्रुप लीडर ने खच्चर को गोली मारने की अनुमति न दे आदेश दिया—'इसके चारों सुमों में बन्धन डाल दिए जाएं। यह लगातार खाता रहा है। अभी तीन-चार दिन मरेगा नहीं। धूप रही तो इसे दो दिन बाद घास मिल जाएगी।' उसने हमें अपना अभिप्राय बताया—'पीछे पड़ाव पर बड़ा मेट बहुत भरोसे लायक आदमी है। सम्भव है, उसे खयाल हो कि हमारे पास अभी चार दिन का राशन है, इसलिए अपने आदमियों को कच्ची बर्फ में धंसाने का जोखिम टाल रहा हो। चार दिन की धूप बहुत सहायक हो सकती है। वह उस दिन दोपहर बाद तक न आया तो हम आगामी प्रातः भगवान भरोसे धार को लांघने का यत्न करेंगे ही, परन्तु हो सकता है इस बीच मौसम फिर धोखा दे जाए, हमें दो-तीन या चार दिन यहाँ रुकना पड़ जाए। उस समय यह खच्चर हमारा भोजन बनेगा। इसका मांस पकाने के लिए काफी ईंधन की ज़रूरत होगी। उसके लिए पैराफीन बचाओ, डब्बों में बन्द राशन गरम करने की ज़रूरत नहीं। केवल नाश्ते के समय एक-एक प्याला कॉफी बनाई जाए।'

"धूप दो दिन खूब अच्छी पड़ी। मैदान में जगह-जगह घास प्रकट हो गई। खच्चर को घास की ओर छोड़ दिया गया। वह लहक-लहककर घास खा रहा था और हम टीनों में जमा राशन निगल-निगलकर झुरझुरी अनुभव कर रहे थे। प्रत्येक दिन पहाड़ हो रहा था। मन चाहता था, धार को लांघने के प्रयत्न में ही प्राण चले जाएं और ऐसी यातना समाप्त हो।

"सोलहवें दिन हम लोगों ने ग्यारह बजे से ही धार की ओर दूरबीनें लगा लीं। दर्रा अब भी अलंघ्य था। हम लोग उसके समीप धार के नीचे स्थान की ओर ही देख रहे थे। तीन भी बज गए तो ग्रुप लीडर ने निराशा से कह दिया, 'उन लोगों ने अनुमान कर लिया है कि हम बर्फ में दब चुके हैं।' कुछ मिनट दूरबीन की धार की ओर देखता रहा और फिर बोला—'लेकिन मेरा अनुरोध है कि दो दिन और ठहरा जाए। उन लोगों की प्रतीक्षा में नहीं, केवल इसलिए कि दो दिन की धूप से', उसने धार पर एक स्थान की ओर संकेत किया—'वहाँ से जाने में जोखिम कम हो जाएगी।'

"हमारे लिए उस सर्दी और यातना में दो और दिन बिताने की कल्पना असह्य थी। दो साथी उतावले हो गए—'हम यहाँ खाएंगे क्या? दो दिन भूखे रहकर उस धार पर चढ़ सकने का सामर्थ्य रहेगा! '

"इसी समय के लिए तो वह खच्चर है।' ग्रुप लीडर ने उत्तर दिया—'अब उसका क्षण

आ गया है। चलो, उसे समाप्त कर दें ताकि प्रकाश रहते उसे उधेड़ा जा सके।' वह रिवाल्वर लेने के लिए तम्बू के भीतर गया और हमें धार की रीढ़ पर दर्रे के पास दो शेरपा दिखाई दे गए।"

पूरण किलक उठा—"ह्वाट लक! खच्चर बच गया।"

"लक क्यों?" भार्गव ने पूछा—"शेष खच्चरों को क्या हमने गोली मार दी थी? उस खच्चर ने स्थिति के लिए प्रयत्न किया, बच गया।"

"परन्तु खच्चर मांसाहारी नहीं होते", पूरण ने आगाह किया—"यह बात अप्राकृतिक थी।"

"अप्राकृतिक?" भार्गव के माथे पर तेवर आ गए, "क्या सृष्टि के आरम्भ से जीवों के रूप और व्यवहार सदा एक-से ही रहे हैं? जीव अस्तित्व-रक्षा के लिए शाकाहारी से मांसाहारी और मांसाहारी से शाकाहारी बनते रहे हैं। इतना ही नहीं, वे जलचर से थलचर और नभचर तक बन गए। जो जीव स्थिति-अनुकूल व्यवहार नहीं अपना सके उनका अस्तित्व मिट गया। उनके प्रस्तर पंजर संग्रहालयों में मिलेंगे। जीवों का अस्तित्व-रक्षा के प्रयोजन से स्थिति-अनुकूल आचरण भी प्राकृतिक है।"

"तब बात विचित्र ज़रूर है।"

"विचित्र बात सुनना चाहते हो! वह भी सुनाता हूँ।" भार्गव नया सिगरेट सुलगाकर सुनाने लगा—

"वह मेरे ट्रेनिंग पीरियड की बात है। हम लोग 'कंचनजंगा' की धारों में थे। उस समय भी हमारा कैम्प दस हज़ार फुट पर ही था। हमारा ट्रेनर एक जर्मन था। हम लोग प्रातः माउंटेनियरिंग के लिए कैम्प से साढ़े तीन हज़ार फुट और ऊपर गए थे। लौटते समय भारी वर्षा होने लगी। उस वर्षा में बल्लमों और कुदालों की सहायता से दो-दो, चार-चार इंच करके उतरना पड़ा। सूर्यास्त के बाद ही कैम्प पहुँच सके। वर्षा ऐसी थी कि मोटे, ऊनी, वाटरप्रूफ कपड़े होने पर भी त्वचा के साथ पानी भर जाता था। पेटी खींचने पर पानी पतलून में से बह जाता था। सर्दी ऐसी कि जबड़े ऐंठ जाने से मुँह से बोल न निकले। उंगलियाँ नीली पड़कर ऐंठ गई थीं। जूतों के फीते काटकर उन्हें उतार सके।

"कैम्प में लौटने पर ट्रेनर ने आर्डर किया—'सब लोग पूरे कपड़े उतारकर परों की रज़ाइयों के थैलों में घुसकर चार-चार घूंट ब्रांडी निगल लें और शरीर को हाथों से जितना रगड़ा जा सके, मल लें।'

"हमारे ग्रुप में दक्षिण के एक कर्मकाण्डनिष्ठ परम वैष्णव ब्राह्मण भी थे। दूसरों के सामने निर्वस्त्र हो जाना उन्हें स्वीकार न था। वे भीगी बनियान, कमीज़ और पतलून पहने ही रजाई के थैले में घुसे। परम वैष्णव व्यक्ति थे, ब्रांडी भी उन्होंने नहीं पी। जाड़े के मारे चेहरा भी थैले में कर लिया। दूसरे दिन सबके उठ जाने पर वे नहीं उठे। पुकारने पर भी उनकी नींद नहीं टूटी तो कॉफी का प्याला देने के लिए थैले का मुँह खोलकर देखा गया, उनका मुँह खुला था।"

"वैष्णव विष्णुलोक सिधार गए?"

"सीधे!" भार्गव ने सिगरेट से लम्बा कश खींच लिया।

"खैर!" पूरण ने विद्रूप से सराहना की—"अपना धर्म-विश्वास तो नहीं छोड़ा।"

भार्गव का होंठों की ओर सिगरेट ले जाता हाथ रुक गया—"धर्म-विश्वास क्या, संस्कार कहो! देख लो, खच्चर ने स्थिति समझकर आत्म-रक्षा कर ली और संस्कारों से बंधा मनुष्य स्थिति-अनुकूल आचरण नहीं कर सका।"

समय

पापा की अवचेतना में रिटायर हो जाने के डेढ़-दो वर्ष पूर्व से ही चिन्ता सिर उठाने लगी थी—रिटायर हो जाने पर अवकाश का बोझ कैसे संभलेगा? अपनी इस चिन्ता का निराकरण करने के लिए प्रायः ही कहने लगते—"लोग-बाग रिटायर होकर निरुत्साह क्यों हो जाते हैं? सोचिए नौकरी करते समय अवकाश के दिन कितने प्यारे लगते हैं। गिन-गिनकर अवकाश के दिनों की प्रतीक्षा की जाती है। जब दीर्घ श्रम के पुरस्कार में पूर्ण अवकाश का अवसर आ जाए तो निरुत्साह होने का क्या कारण? इसे तो अपने श्रम का अर्जित फल मानकर, उससे पूरा लाभ उठाना और सन्तोष पाना चाहिए। अभाव होगा या मुक्ति मिलेगी केवल मज़बूरी से, ड्यूटी की मज़बूरी से। आराम और अपनी इच्छा से श्रम करने में तो कोई बाधा नहीं डालेगा। अध्ययन का मनचाहा अवसर होगा और पर-आदेश से मुक्ति। इससे बड़ा सन्तोष दूसरा क्या चाहिए?"

पापा के मन में बुढ़ापे और बुज़ुर्गी से या कहिए बूढ़े और बुज़ुर्ग समझे जाने से सदा विरक्ति रही है। रिटायर होने पर मितव्ययिता के विचार से गर्मियों में पहाड़ जाना छोड़ दिया है। सर्विस के समय गर्मियों में महीने-दो महीने हिल स्टेशनों पर रह लेने का बहुत शौक था। प्रतिवर्ष नहीं तो दूसरे वर्ष अवश्य पहाड़ जाते थे। पहाड़ जाते तो चढ़ाइयों पर सुविधा से चल सकने के लिए एक-दो छड़ियाँ ज़रूर खरीद लेते और हर बार नई छड़ियाँ खरीदते। परन्तु लखनऊ लौटने पर बाज़ार या सैर के लिए जाते समय छड़ी उनके हाथ में न रहती। कभी स्वास्थ्य का विचार आ जाता या शरीर पर मांस अधिक चढ़ने की आशंका होने लगती तो सुबह-शाम तेज़ चाल से सैर आरम्भ कर देते। प्रातः मुँह-अंधेरे सैर के लिए जाते समय अम्मी के सुझाने पर कुत्तों या ढोर-डंगरों से सावधानी के लिए छड़ी हाथ में होने पर भी उसे टेककर न चलते थे। छड़ी को पुलिस या सैनिक अफसर की तरह, बेटन के ढंग से, हाथ में लिये रहते। छड़ी टेककर चलना उनके विचार से बुढ़ापे या बुज़ुर्गी का चिह्न था।

पापा का कायदा था कि सन्ध्या समय टहलने के लिए अथवा शापिंग के लिए भी जाते तो केवल अम्मी को साथ ले जाते थे। बच्चों को साथ ले जाना उन्हें कम पसन्द था। अन्य बच्चों की तरह हम लोगों को भी अम्मी-पापा के साथ बाज़ार जाने की उत्सुकता बनी रहती थी। बाज़ार में हम बच्चे कोई चीज़ माँग लेते तो तनिक ठुनकने से ही मनचाही चीज़ मिल जाती थी। बाज़ार में पापा हम लोगों को डांटते-धमकाते नहीं थे। उन्हें बाज़ार में तमाशा बनना पसन्द नहीं था। इसलिए अम्मी और पापा बाज़ार जाने के लिए तैयार होने लगते तो हम लोगों को नौकर या आया के साथ इधर-उधर टहला दिया जाता। बच्चों को बाज़ार ले चलने की अनिच्छा से सम्भवतः पापा की बुज़ुर्ग न जान पड़ने की भावना भी अवचेतना में रहती होगी।

पापा ने अवकाश प्राप्त हो जाने पर अवकाश के बोझ से बचने के लिए अच्छी-खासी दिनचर्या बना ली है। अवकाश-प्राप्ति से कुछ महीने पूर्व ही उन्होंने योजना बना ली थी कि शासन-कार्य के छत्तीस वर्षों के अनुभव और चिन्तन के आधार पर 'एथिक्स आफ एडमिनिस्ट्रेशन' (शासन का नैतिक पक्ष) पर एक पुस्तक लिखेंगे। दोपहर से पूर्व और अपराह्न में कम-से-कम दो-दो घंटे इस विषय में अध्ययन करते रहते हैं अथवा नोट्स लिखते रहते हैं। पहले उन्हें काम के दबाव के कारण कम अवसर मिलता था परन्तु अब सप्ताह में एक-दो दिन निकट सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों की खोज-खबर लेने भी चले जाते हैं। अब किसी हद तक वे शापिंग भी करने लगे हैं। रसद और साग-सब्जी की खरीद उनके बस की नहीं। वह काम पहले अम्मी करती थीं और अब भी रिक्शा पर बैठकर स्वयं ही करती हैं। अलबत्ता हल्की-फुल्की चीज़ें, टूथब्रुश, ब्लेड, सिगार-सिगरेट, मोज़े-रूमाल और दवा-दारू की खरीद के लिए पापा सन्ध्या के समय स्वयं हजरतगंज पैदल जाते हैं। कारण वास्तव में कुछ चलने-फिरने का बहाना।

पापा के स्वभाव और व्यवहार में कुछ और भी परिवर्तन आए हैं। पहले उन्हें अपनी पोशाक चुस्त रखने और व्यक्तिगत उपयोग की बढ़िया चीज़ों का शौक रहता था। पोशाक के मामले में वे बिल्कुल बेपरवाह नहीं हो गए हैं। परन्तु गत तीन वर्षों में जाड़े के आरम्भ में अम्मी हर बार उनसे एक नया ऊनी सूट बनवा लेने का अनुरोध कर रही हैं। पापा पुराने कपड़ों को काफी बताकार टाल जाते हैं। यही बात जूतों के मामले में भी है। अम्मी खीझकर कहती हैं—अपने लिए उन्हें जाने क्या कंजूसी हो गई है! बच्चों को पहाड़ पर या सैर के लिए बाहर भेज देंगे। उनके लिए कपड़ों की ज़रूरत भी दिखाई दे जाती है; अपने लिए कुछ नहीं! ...लगता है पापा अब अपने शौक और रुचियों को बच्चों द्वारा पूरा होते देखकर सन्तोष पाते हैं; मानो उन्होंने अपने व्यक्तित्व का न्यास बच्चों में कर लिया है।

पापा के बच्चों को बाज़ार साथ न ले जाने के रवैये में भी परिवर्तन हो गया है। उनके रवैये में परिवर्तन का एक प्रकट कारण यह हो सकता है कि अम्मी अब अपने स्वास्थ्य के कारण पैदल चलने से कतराती हैं और हम लोग उंगली पकड़कर साथ चलनेवाले बच्चे नहीं रह गए हैं। कभी पापा या अम्मी के साथ चलना होता है तो हमारे कन्धे उनके बराबर या कुछ ऊँचे ही रहते हैं। पापा को आशंका नहीं है कि बच्चे बाज़ार में गुब्बारेवाले या आइसक्रीमवाले को देखकर हाथ फैलाकर ठुनकने लगेंगे। अब शायद अपने जवान, स्वस्थ, सुडौल बच्चों की संगति में उन्हें कुछ गर्व भी अनुभव होता होगा। इसलिए सन्ध्या समय हज़रतगंज या बाज़ार जाते समय कभी मुझे, कभी मन्टू बहन को, कभी गोगी को, कभी कज़िन पुष्पा को ही साथ चलने का संकेत कर देते हैं। उनके साथ हज़रतगंज जाने पर हम लोगों को चाकलेट-टॉफी या आइसक्रीम के लिए कहना नहीं पड़ता। पापा हज़रतगंज का चक्कर पूरा करके स्वयं ही प्रस्ताव कर देते हैं—"कहो, क्या पसन्द करोगे? कॉफी या आइसक्रीम?"

हमारे समवयस्क साथी हम लोगों को बाज़ार, पार्क या रेस्तरां में पापा के साथ देखकर कभी-कभी आँख दबाकर या किसी संकेत से हमारी स्थिति के प्रति विद्रूप या करुणा प्रकट कर देते हैं। निस्सन्देह पापा की उपस्थिति में सभी प्रकार की हरकतें या बातें नहीं की जा सकतीं परन्तु उनकी संगति बोर या उबा देनेवाली भी नहीं होती। वे अन्य अवकाश-प्राप्त लोगों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार केवल अपनी नौकरी के अनुभवों, ऐडवेंचर्स, नवयुवक लड़के-लड़कियों के लिए उपयुक्त विवाह-सम्बन्धों अथवा पुराने ज़माने की सस्ती और आज की महंगाई की ही चर्चा नहीं करते। उनके मानसिक सम्पर्क

और चिन्ताएं वैयक्तिक और पारिवारिक क्षेत्र में सिमट जाने के बजाय पढ़ने और सोचने का अधिक अवसर पाकर कुछ फैल ही गए हैं। उनकी बातचीत में चुस्ती और हाज़िर-जवाबी कम नहीं हुई बल्कि अपने को तटस्थ और अनासक्त समझ लेने से उसका तीखापन कुछ बढ़ गया। परन्तु हम लोग उनकी संगति के लिए बचपन के दिनों की तरह लालायित नहीं रह सकते। कारण यह है कि अठारह-बीस पार कर लेने पर हम लोग भी अपना व्यक्तित्व अनुभव करने लगे हैं। हम लोगों की अपनी वैयक्तिक रुझानें, अपने काम और अपने क्षेत्र भी हो गए हैं और उनके आकर्षण और आवश्यकताएं भी रहती हैं। कभी-कभी पापा की आवश्यकता और हमारी संगति के लिए उनकी इच्छा और हमारी अपनी आवश्यकताओं और आकर्षणों में द्वन्द्व की स्थिति आ जाना अस्वाभाविक नहीं है।

सन्ध्या समय हम लोगों में से किसी-न-किसी को साथ ले जाने की इच्छा में पापा के दो प्रयोजन हो सकते हैं। एक प्रयोजन तो वे स्वीकार करते हैं। उन्हें बूढ़ों या बुज़ुर्गों की अपेक्षा नवयुवकों की संगति अधिक पसन्द है। दूसरा कारण पापा प्रकट नहीं करना चाहते। लगभग एक वर्ष से उनकी नज़र पर आयु का प्रभाव अनुभव हो रहा है। अधिक देर तक पढ़ने-लिखने से धुंधलापन अनुभव होने लगता है। विशेषकर सूर्यास्त के पश्चात् यदि सड़क पर प्रकाश कम हो तो ठोकर खा जाते हैं और प्रकाश अधिक होने पर चकाचौंध से परेशानी अनुभव करते हैं। इसलिए सन्ध्या समय बाहर जाते हैं तो हम लोगों में से किसी को साथ ले जाना चाहते हैं।

पिछले जाड़ों की बात है। उस दिन डाक में आई पत्रिका में एक बहुत रोचक लेख पढ़ रहा था। पापा के कमरे से अम्मी को सम्बोधन करती आवाज़ सुनाई दी—"एक जग गरम पानी भिजवा देना।" यह संकेत था कि दिन ढल गया है, पापा बाहर जाने की तैयारी आरम्भ कर रहे हैं। तब ध्यान आया, सूर्यास्त का समय हो जाने से कमरे में प्रकाश कम हो गया था। बिजली का बटन दबाकर प्रकाश कर लेना चाहिए था परन्तु वह यात्रा-वर्णन समाप्त किए बिना पत्रिका हाथ से छूट न रही थी।

पापा की बाहर जाने की तैयारी अनेक घोषणाओं और पुकारों के साथ होती है ताकि सब जान जाएं—वे बाहर जा रहे हैं और कोई उनके साथ हो ले। मैंने सुना तो, परन्तु मन जापान के उस यात्रा-वर्णन में गहरा रमा हुआ था। पढ़ते-पढ़ते भी पापा की बाहर जाने की तैयारी की आहटें कान में पड़ रही थीं।

आहट से अनुमान हो रहा था कि पापा बाहर जाने के लिए जूते पहन चुके होंगे, टाई बाँध ली होगी। उनके कमरे से पुकार आई—कोई है हज़रतगंज की सवारी।"

पापा की पुकार के स्वर से अनुमान हुआ कि उन्होंने ऊपर के कमरों की ओर मुँह करके पुकारा था। मेरे कमरे से अपनी तैयारी की कोई प्रतिक्रिया न सुनकर उन्होंने लड़कियों को पुकार लिया था। ऊपर से भी कोई उत्तर न आने पर पापा ने फिर पुकारा —"है कोई चलनेवाला!"

पापा की इस पुकार की प्रतिक्रिया में ऊपर पुष्पा दीदी के कमरे से सुनाई दिया —"मन्टू, जाओ न, पापा के साथ घूम आओ।"

मन्टू ने अपने कमरे से पुष्पा दीदी को उत्तर दिया—"तुम भी क्या दीदी... बोर...बुड्ढों के साथ कौन बोर हो!"

मन्टू ने अपने विचार में स्वर दबाकर उत्तर दिया था, परन्तु उसकी बात पापा के समीप के कमरे में भी मैं सुन सका था। पत्रिका आँखों के सामने से हट गई। नज़र पापा के कमरे में चली गई। पापा ने ज़रूर सुन लिया था। जान पड़ा, वे कोट हैंगर से उतारकर

पहनने जा रहे थे। कोट उनके हाथ में रह गया। चेहरे पर एक विचित्र, विषण्ण-सी मुस्कान आ गई। कोट उसी प्रकार हाथ में लिये कुर्सी पर बैठ गए। नज़र फर्श की ओर परन्तु चेहरे पर विषण्ण मुस्कान। कई क्षण बिल्कुल निश्चल बैठे रहे, मानो किसी दूर की स्मृति में खो गए हों।

मैंने दृष्टि पापा की ओर से हटा ली कि नज़र मिल जाने से संकोच अथवा असुविधा न अनुभव करें। फिर पत्रिका उठा ली परन्तु पढ़ न पाया। अनुमान कर रहा था—'पापा क्या सोच रहे होंगे?' सहसा स्मृति में बचपन की याद कौंध गई—तब हम लोग उनके साथ बाहर जाने के लिए कितने लालायित रहते थे। हमारी उस लालसा से उन्हें कभी-कभी परेशानी भी अनुभव हो जाती थी। एक दिन की स्मृति आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी—

हम लोग अम्मी और पापा के साथ बाहर जाने की ज़िद करते तो पापा को अच्छा नहीं लगता था। अम्मी ऐसी अप्रिय स्थिति से बचने का यह उपाय करती थीं कि स्वयं बाहर जाने के लिए साड़ी बदलने से पहले हमें आया हुबिया या नौकर बहादुर के साथ कुछ समय के लिए बाहर भेज देती थीं। हम लोगों के लौटने से पहले ही अम्मी और पापा बाहर जा चुके होते।

एक दिन सन्ध्या को अम्मी ने हम दोनों को बुलाकर कहा—"बच्चो, हुबिया साग-सब्जी लेने चौराहे तक जा रही है। तुम लोग भी घूम आओ।" उन्होंने हुबिया से भी कह दिया—"देखो, कुंजड़े के यहाँ ताज़े नरम सिघाड़े हों तो इन दोनों को ले देना।"

हम लोग हुबिया के साथ घर से बीस-पच्चीस कदम गए थे। मन्टू ने मुझे रोककर कहा—"सुनो, अम्मी पापा के साथ बाज़ार जा रही हैं। हम भी उनके साथ बाज़ार जाएंगे।" मन्टू ने हुबिया को सम्बोधन किया, "हुबिया, हमारी सैण्डल में कील लग रहा है। हम दूसरी सैण्डल पहनकर आते हैं।" हम दोनों घर की ओर भाग आए।

मन्टू का अनुमान ठीक था। हम लौटे तो ड्योढ़ी में पहुँचते ही अम्मी की पुकार सुनाई दी—"जी, आइए, मैं चल रही हूँ।" अम्मी बाहर जाने के लिए साड़ी बदले और जूड़े में पिनें खोंसती हुई आ रही थीं।

मन्टू अम्मी की कमर से लिपट गई और डबडबाई आँखें अम्मी के मुँह की ओर उठाकर आँसू-भरे स्वर में हिचक-हिचककर गिड़गिड़ाने लगी—"कभी...कभी...कभी बच्चों को भी...तो...साथ...ले जाना चाहिए।"

तब तक पापा भी आ गए थे। उन्होंने पूछा—"क्या है, क्या है?" वे समझ गए थे, बोले—"अच्छा बच्चो, एकदम तैयार हो जाओ।"

अम्मी ने कहा—"आ, मन्टू, तेरी फ्राक बदल दूं।"

परन्तु मन्टू, अपनी इस हरकत से इतना शरमा गई थी कि दोनों हाथों में मुँह छिपाकर भाग गई। पापा और अम्मी के कई बार बुलाने पर भी नहीं आई।

बात पापा के मन में लग गई। उस समय बाहर नहीं जा सके। उसके बाद से हफ्ते-पखवाड़े में हम लोगों को भी बाज़ार ले जाने लगे थे। कभी-कभी खाने की मेज़ पर हम लोगों के साथ बैठने पर उस दिन की घटना—मन्टू के रो-रोकर 'बच्चों को भी कभी साथ ले जाने' की दुहाई देने की बात—सुनाने लगते और इस प्रसंग से मन्टू झेंप जाती है।

आज पापा के साथ चलने के अनुरोध का उत्तर मन्टू दे रही है—'बोर... बुड्ढों के साथ बोर...'

पापा अपनी कुर्सी पर निश्चल बैठे, स्मृति में खोए विषण्ण मुस्कान से वही घटना तो

याद नहीं कर रहे थे!

पापा सहसा, मानो दृढ़ निश्चय से, कुर्सी से उठ खड़े हुए। कोट पहन लिया और अम्मी को सम्बोधन कर पुकारा—"सुनो, कई बार पहाड़ से छड़ियाँ लाए हैं, तो कोई एक तो दो!"

एक छड़ी उठाकर मैंने अपने कमरे में रख ली थी। पापा को उत्तर दिया, "एक तो यहाँ पड़ी है, चाहिए?" छड़ी कोने से उठाकर पापा के सामने कर दी।

"हाँ, यह तो बहुत अच्छी है।" पापा ने छड़ी की मूठ पर हाथ फेरकर कहा और छड़ी टेकते हुए किसी की ओर देखे बिना घूमने के लिए चले गए; मानो हाथ की छड़ी को टेककर उन्होंने समय को स्वीकार कर लिया।